ॐ

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रार्थना	१
भूमिका आप-बीती	२
धन्यवाद	१०
मनुष्य जीवन यात्रा के लिए सन्ध्या का सुन्दर क्रम ...	११
विषय प्रवेश	१३

पहली सीढ़ी—अशान्त मन २०

शांति की खोज, सत्संग, सन्ध्या शब्द का अर्थ, सन्ध्या, प्रार्थना और स्तुति, तीन मार्ग, सन्ध्या प्रार्थना कब स्वीकार समझी जाय ? कर्म मार्ग, कर्म, उपासना और ज्ञान, मनुष्य, मनुष्य में अन्तर, जीवितवाणी, शब्द में बोलने वाले का आकार, पिण्डे सो ब्राह्मण्डे।

दूसरी सीढ़ी—सन्ध्या सिद्धि ३६

संध्या क्यों, किसकी, किस से, अथवा कैसे, किस को, किस समय और कितनी देर तक करनी चाहिये ? सन्ध्या का आसन कैसा हो ? सन्ध्या का साधन, अन्तःकरण की शुद्धि—प्रभु भक्ति की आवश्यकता, योग और सन्ध्या, मन कैसे जीता जा सकता है, सन्ध्या समय नियत होने की आवश्यकता, सन्ध्या की प्रारम्भिक क्रियाएँ आवश्यक हैं, सन्ध्या यज्ञ है, शिखा बन्धन तथा गायत्री मन्त्र, चोटी की महत्ता।

तीसरी सीढ़ी— ७७

सन्ध्या उद्देश्य, दो प्रकार का सुख तथा शांति, जल से रोग निवृत्ति, जल का गुण, कर्म, स्वभाव धारण करो, जल से मेधा प्राप्ति, जल चन्द्रमा तथा मन का सम्बन्ध, दिव्य जल, धातों का प्रभाव जल पर और कुशा, आपः के अर्थ, तीन आचमन तीन प्रकार की शांति के लिए, आचमन विधि, जल से कुवृत्ति की रोक तथा सात्विक वृत्ति को जगाना, अर्थ आचमन मन्त्र।

चौथी सीढ़ी— ८८

उद्देश्य प्राप्ति का प्रथम साधन, अंग स्पर्श मन्त्र की व्याख्या, जल से यश और बल, स्पर्श क्रिया, कर्म इन्द्रियां, अपनी महान शक्तियों को भिखारी न बनाओ, कर्म खण्ड की वाणी जार यश और बल, वाणी की विशेषताएँ, जल कहां लगाएँ, ईश्वरीय पिंड रचना से उपदेश, आत्म-निरीक्षण, जिह्वा, आंख, कान, हाथ के अवगुण, जिह्वा एक, वाक् वाक् दो वार, शरीर श्री का साधन।

पांचवीं सीढ़ी—मार्जन मन्त्र ११२

बल तथा यश की रक्षा, आचार-विचार तथा आहार व्यवहार, हमारा आध्यात्मिक शरीर, तप की व्याख्या, जल का तप से सम्बन्ध, व्यवहार शुद्धि।

छठी सीढ़ी— १२३

आसन तथा प्राणायाम-ध्यान चक्र, आसन का फल, ध्यान स्थान, प्राणायाम क्यों किया जाता है ?

सातवीं सीढ़ी १२०

अघमर्षण मन्त्र-भावना वृत्ति, दिशा का सम्बन्ध सन्ध्या से, आसन किस चीज का हो ?

आठवीं सीढ़ी-- १४३

मनसा परिक्रमा, सर्व रक्षक पिता—पंच ग्रन्थि, प्राची दिक् मोह बन्धन, दक्षिणा दिक् लोभ बन्धन, प्रतीची दिक्—काम बंधन, उदीची दिक्—क्रोध बंधन, ध्रुवादिक्—अहंकार बंधन, छठी अवस्था निर्बंध—ऊर्ध्वादिक्— ।

बन्धनों की अवस्था तथा उनसे छुटकारा पाने के साधन का कोष्ठक ।

नवीं सीढ़ी—उपस्थान मन्त्र १५६

प्रभु के सन्मुख, बाह्य और आंतरिक बिचित्र लीला, मनुष्य शरीर में प्रभु की विचित्र लीला, प्रभु उपासना का फल ।

दसवीं सीढ़ी--गायत्री मन्त्र— १७२

आत्म समर्पण,

ग्यारहवीं सीढ़ी-- १७६

नमस्कार मंत्र--प्रभु के चरणों में ।

परिशिष्ट १--योग युक्त संयम १७७

संध्या के दूसरे मन्त्र में वाक् प्राण, चक्षु, और श्रोत्र क्यों खुले हैं और नाभि, हृदय, कंठ और शिर बन्द क्यों हैं ?

परिशिष्ट २--सन्ध्या कोर्स— १८२

परिशिष्ट ३--सन्ध्या मन्त्र तथा भावार्थ। १८८

ओ३म्

समालोचना ।

ले० स्वा० अभय देवजी आचार्य गुरुकुल कांगड़ी ।

महात्मा टेकचन्द जी की लिखी हुई गायत्री-रहस्य नामक पुस्तक को पढ़कर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई । उसमें बहुत रोचक ढङ्ग से गायत्री जाप का माहात्म्य लिखा गया है। तथा आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों के लिये अन्य बहुत ही उपयोगी बातों का संग्रह किया गया है। अतः उन की इस पुस्तक में स्वाभाविक तेज है । आर्य समाज में ऐसी भक्ति की पुस्तकों की निस्सन्देह आवश्यकता है ।

ह० अभयदेव

ओ३म्

प्रार्थना

ओ३म् विमे कर्णा पतयतो वि चक्षुः,
वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः,
किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

(ऋ० ६ मण्डल ६ सूत्र ६ मं०)

हे प्रभो ! मेरे दोनों कान इधर-उधर भाग रहे हैं, और दोनों आँखें भी दूर-दूर जा रही हैं। हृदय में स्थित जो यह ज्ञान रूपी आप की ज्योति है, वह भी मन की चञ्चलता के कारण बुझी-सी जा रही है। अत्यन्त दूर के विषयों में लगकर यह मेरा मन दूर-दूर विचरण कर रहा है।

हे प्रभो ! ऐसी चञ्चल दशा में मैं आप का आश्रित (उपासक) आपसे क्या कहूँ ? और क्या मनन तथा चिन्तन करूं ? कैसे मनन करके आत्म-साक्षात् करूँ ?

प्रभो ! मैं तो तेरा आश्रित हूँ। मेरे मार्ग के कांटे, कूड़ा-करकट आप ही साफ करें, जैसे माता-पिता पुत्र के आगे से साफ करते हैं।

॥ ओ३म् शम् ॥

टेकचन्द (प्रभु आश्रित)

॥ ओ३म् ॥

सन्ध्या सोपान

भूमिका

आप बीती

प्रिय पाठक-वृन्द ! इस पुस्तक को आरम्भ करने से पहले मैं कुछ अपनी बीती बताये देता हूँ । आप में से भी कई सज्जन इस प्रकार अवस्थाओं में से गुज़रे होंगे। उन का एक बार फिर स्मरण आ जाना लाभदायक होगा :—

सं० १८९७ ई० में, जब मैं अभी प्रायः ग्यारह वर्ष की आयु का ही था, तो अलीपुर तहसील (जि० मुजफ्फ़र गढ़) में पूज्य पं० गिरधारीलाल जी, आर्य्य प्रतिनिधि सभा के एक विद्वान् उपदेशक शास्त्रार्थ के लिए आये थे । उन के एक ही व्याख्यान से हज़ार के लगभग जनता ने मद्य-मांस त्याग दिया था । उस समय संन्ध्या-गायत्री पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया था, उसमें से मुझे और कुछ भी याद नहीं, सिवाय इसके कि मैंने और मेरे सहपाठी कई बालकों ने, तत्काल उपदेश के बीच में बैठे हुए, गायत्री-मन्त्र और सन्ध्या के तीन मन्त्र, स्वर्गीय पूज्य दरबारी लाल जी अध्यापक की सहायता से याद कर लिये थे। फिर मैं और मेरे साथी प्रतिदिन कूंएं की माल (चबूतरे) पर बैठकर बहते हुएं (रहट) के शब्द में मग्न होकर जप तथा सन्ध्या किया करते थे । न मैं हिन्दी जानता था, न मुझे मन्त्र ही शुद्ध आते थे, अर्थ तो दूर रहे ! (हमारे इलाके में आर्य्य समाज का अभी आरम्भ ही था, अतः स्कूलों में हिन्दी का रिवाज भी न था ।) परन्तु उस समय

सन्ध्या होती भी, तो यही कहते सुना कि जिनका शब्द उच्चारण अशुद्ध होगा वह इस प्रकार शुद्ध हो जायगा, किन्तु इस सम्मिलित उच्चारण से भी किसी की शुद्धि न हुई और न मेरी हुई।

सं० १६२२ ई० तक यही दशा रही। फिर जब मैंने प्राणायाम आदि योग क्रियायें पूज्यपाद श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज की पवित्र शरण में जा कर सीखीं और पूज्य श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज की रचित "सन्ध्या योग" नामक पुस्तक का स्वाध्याय किया, तो उस समय योग की ओर अधिक रुचि हो गई और सन्ध्या समय भी मैं वही मन्त्र बोलने लगा, जिन के अर्थ आते थे, शेष नहीं। तथा गायत्री का जप भी अधिक करने लगा, तो गायत्री की महिमा का भान होने लगा।

सं० १६२६ ई० में जब पं० सातवलेकर जी की रचित "सन्ध्या अनुष्ठान" पुस्तक पढ़ी तो सन्ध्या के सब मन्त्रों के भावार्थ याद कर लिये और सब मन्त्रों के भावों से सन्ध्या करता रहा। १६३१-३२ अर्थात वर्ष-भर के मौन एकान्त व्रत में मैंने सन्ध्या के दूसरे तथा तीसरे अर्थात् 'अंगस्पर्श' और 'मार्जन' मन्त्रों, मनसा 'परिक्रमा' के मन्त्रों में से केवल "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयम्" भाग का मनन किया। इससे मुझे बड़ा भारी लाभ हुआ और वही

मेरी सन्ध्या का आरम्भ

है। सं० १६३४ ई० में मुझे सन्ध्या के दूसरे मन्त्र का योग के प्रथम अंग 'यम-नियम' से सम्बन्ध का भान होने लगा और ज्यों-ज्यों मैं प्रतिवर्ष एकान्त, अदर्शन तथा मौनव्रत कुछ-कुछ काल के लिये करने लगा और इस मन्त्र को योग का साधन जानकर उस पर

ऐसा आनन्द आता था, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। कई वर्ष तक इस अबोध अवस्था में ही मैं जप और सन्ध्या बड़े प्रेम से करता रहा।

फिर जब सं० १९०६ में मैं नौकर हो गया, तो अपनी बैठक की छत पर बड़े प्रेम से सन्ध्या के मन्त्र उच्च स्वर से बोलता और उसी में ध्यान जमा रहता। सं० १९०९ के उपरांत शहरी जीवन हो जाने पर भी मैं सन्ध्या-हवन तो नियमपूर्वक करता था, परन्तु उस में समय न लगता था, थोड़े समय में ही समाप्त कर लेता था।

१९१६ से व्यावहारिक जीवन हो जाने से यह अवस्था हो गई कि जब सन्ध्या करने वाले और भी साथी होते, तो मैं अपनी जगह पर बैठा रहता और वह अपनी जगह, सन्ध्या तो समाप्त कर ली होती थी, किन्तु बहुत शीघ्र, पांच मिनिट में ही समाप्त हो जाने के कारण, दूसरों से पहले उठ खड़ा होने में लज्जा आती थी कि "ये क्या कहेंगे, सन्ध्या बस पाँच मिनिट में ही समाप्त कर ली!" वास्तव में वे बेचारे भी, मेरे समान इसी विचार में रहकर लज्जावश न उठते थे और अन्त में सब को ही जान-बूझ कर देर से उठना पड़ता था। अब सन्ध्या में आनन्द भी न आता था। उपदेशक लोग कहते थे कि अर्थ सहित सन्ध्या करने में दिल लगता है। अर्थ भी कई बार याद करता, परन्तु भूल जाता। फिर जब कभी सब मिलकर उच्चारण से सन्ध्या करते, तो मैं सौभाग्य समझता कि एक तो काम जल्दी हो गया, दूसरे मक्कारी भी न करनी पड़ी। अतः यही प्रयत्न करता कि सन्ध्या इकट्ठी ही मिल कर किया करूं। परन्तु उस समय मिल कर सन्ध्या करने का भाव ही मालूम न था। समाज में भी रविवार के दिन मिल कर ही

विचार करने लगा, तो मेरे सामने यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इस 'अंग स्पर्श मन्त्र' में तो बल और यश की इच्छा की गई है। इस में चार स्थान (१) वाक् (२) प्राण (३) चक्षु और (४) श्रोत्र तो छेद वाले हैं और अन्य चार (१) नाभि (२) हृदय (३) कण्ठ तथा (४) शिर ढकने वाले। यह ऐसा क्यों है? तब मुझे यह श्लोक याद आया :—

१—अन्दर के पट तब खुलें, बाहर के जब दे।
२—चश्म बन्दो, गोश बन्दो, लब बिबन्द!
गर न बीनी सिर्रे हक़, बरमन बिख़न्द ॥❀

जब यह शब्द गूँजने लगे, तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि सन्ध्या समय बाहर के छिद्र तो हम बन्द कर बैठते हैं, चाहे पूरे-पूरे बन्द हों या न हों, परन्तु अन्दर के तो खुलते ही नहीं? बस! इसी विचार ने मेरी सारी वृत्ति इस मन्त्र पर लगा दी और लगातार विचार करने पर यह तत्व भी मुझ पर खुल गया कि इस मन्त्र के ठीक-ठीक अनुष्ठान से मनुष्य को इस का रहस्य किस प्रकार ज्ञात होता है और प्रभु-भक्ति में कितना प्रेम अपने-आप ही भर जाता है। इसी का आगे इस पुस्तक में उल्लेख करने का मैं प्रयत्न करूँगा, क्योंकि यह सर्व साधारण की समझ से बाहर है।

कुछ वर्ष हुए सन्ध्या के पहले तीन मन्त्रों के सम्बन्ध में एक बार धांदराचक ६६ (लायलपुर) में मैं कुछ सुनाता रहा था। श्री भक्त सोनूराम जी बी० ए०, बी० टी०, हैडमास्टर महोदय ने

❀ आँख, कान और होंठ बन्द कर। यदि इतने पर भी तुझे प्रभु का रहस्य दिखाई न दे, तो शौक से मेरा उपहास कर अर्थात् मखौल उड़ा और निन्दा कर।

छपवाने के लिये उन के नोट भी लिये थे और मेरी कई पुस्तकों में कुछ ऐसा उल्लेख भी कर दिया था, परन्तु किसी कारण से वह अब तक नहीं छपवा सके।

भक्ति-भाव—यज्ञ तथा सन्ध्या में साधारण आर्य्यसमाजियों की रुचि तथा ध्यान बहुत कम है। पहले आरम्भ काल और अब के समय में धरती-आकाश का अन्तर पड़ गया है। जिस काल में मुझे स्वयम् अर्थ जाने बिना ही बड़ा आनन्द आता था। उस काल में बड़े शुद्ध भाव और पवित्र परमाणु काम कर रहे थे। प्रचारक थोड़े थे परन्तु वह प्रचार-भाव (मिश्नरी स्पिरिट) के थे। उन्हें वैदिक-धर्म के फैलाने की ऐसी चिन्ता और लगन थी, जैसे किसी के अपने बाप की या अपने घर की खेती सूख रही हो। जो अनपढ़ या पढ़े-लिखे लोग उस समय आर्य्य समाज में प्रवेश करते थे, वे बिना प्रवेशपत्र (फ़ार्म) भरे या प्रतिज्ञा किये ही प्रवेश करते थे और उनकी आस्तिकता तथा श्रद्धा हृदयपत्र फ़ार्म पर अंकित हो जाती थी। उनका जीवन-मरण सच्चाई के लिए होता था।

मैं उस समय बालक ही था, परन्तु मेरे साथ मिलकर बड़ी आयु के धनी, मानी, तथा बूढ़े (उस समय न बाजा था न जोड़ी, परन्तु अपनी तालियों को ही साज़ बनाकर) सब झूम-झूम कर जब बड़े प्रेम से समाज मन्दिर में भजन गाते थे, तो आप रीझते और दूसरों को रिझा देते थे। उन्हें वह भजन साक्षात् प्रभु-भक्ति ही जान पड़ते थे। न वह लजाते थे न वह अकड़ते थे।

पवित्र परमाणु—प्रत्येक आर्य्य में मिश्नरी स्पिरिट भरी थी और उन्हें आर्य्य समाज रूपी सत्य सनातन वैदिक धर्म की शान का बड़ा ध्यान था। उन का जीवन आर्य्य समाज में प्रविष्ट होते ही "अघमर्षण मन्त्र" के अनुसार पाप विषयों को धो डालने वाला होता था, अतः वह शुद्ध भाव और प्रचारकों के शुद्ध परमाणु जनता में पवित्रता फैला देते थे। फिर उन्हें पवित्र मन से प्रभु-भक्ति में रस क्यों न आता ?

ज्यों-ज्यों यह वायु-मंडल बदलता गया और जनता का प्रवेश आर्य्य-समाज में बिना किसी सचाई या धार्मिक उद्देश्य के होता गया, वैसे-ही-वैसे पहले तो मिश्रित परमाणुओं से और फिर अशुद्ध परमाणुओं से आर्य्य-जगत् आच्छादित होता गया और उसका विशेष प्रभाव हृदय तथा मस्तिष्क के विचारों पर पड़ने लगा। अब तो यह दशा है कि जब कोई सन्ध्या करता है तो ५ मिनट में ही समाप्त करके उठ बैठता है। यदि कोई देर लगाकर उठे और उसे सचमुच रस आ रहा हो, तो दूसरे कहते हैं कि यह दम्भ करता है। सन्ध्या तो ५ मिनट में समाप्त हो जाती है, यह घण्टा क्यों लगा देता है ?

यह पुस्तक लिखने की आवश्यकता

मुझे जहां-जहां यज्ञ कराने के लिए जाना पड़ा और प्रचार किया, वहाँ ही यज्ञ और सन्ध्या में लोगों की कुछ-कुछ श्रद्धा और रुचि उत्पन्न होने लगी और वह अपने आपको अब तक भूल में पड़ा हुआ समझने लगे, तो मैंने इस वर्ष मई तथा जून के दो

मास इसीलिए अपनी कुटिया (टोबा टेक सिंह) पर रहने का निश्चय किया और समाचार पत्रों में यह दे दिया कि "जिन सज्जनों को सन्ध्या, गायत्री तथा यज्ञादि का नियमपूर्वक अनुष्ठान करना हो, वह इन दो मासों में यहाँ आ जायं" परन्तु शर्त यह थी कि "उन्हें इस कार्य की सफलता के लिये पहले एक सप्ताह भर मौन रहना होगा, ताकि वह अपनी व्यावहारिक वृत्तियों के संस्कारों को कुछ ढीला कर सकें और जब मौन रहने तथा जाप करने से उनके हृदय पवित्र हो जायं तो वह अनुष्ठान क्रिया को शीघ्र ही ग्रहण कर सकें।

किन्तु २४ मई तक केवल एक ही युवक आया, वह भी इस अभिप्राय से नहीं, अपितु वैसे ही सत्संग के लिए आया, अतः मैंने इतनी प्रतीक्षा के अनन्तर यही उचित समझा कि अपनी आत्मशुद्धि के लिये व्रत कर लूँ, सो सात सप्ताह का जो अवकाश मेरे पास शेष था, उसे मैंने व्रत में लगा दिया और इस व्रत में ही अपनी उन अनुभूत क्रियाओं को एक सम्वाद के रूप में लिख डाला। इस प्रकार मैंने मई तथा जून मास की इस ड्यूटी (कर्तव्य) के ऋण से उऋण होने में सन्तोष किया।

कृतज्ञता प्रकाश—इस व्रत में मैंने "अथ ब्रह्मयज्ञ" "सन्ध्या सुमन" "सन्ध्या रहस्य" "सन्ध्या के तीन अंग" और "सन्ध्या उपासना विधि" तथा "सोमरस" का भी कुछ थोड़ा सा स्वाध्याय किया और मुझे उन सब से बड़ा लाभ हुआ। इस पुस्तक में भी कहीं-कहीं मैंने उनके ही सुन्दर शब्द और पवित्र भाव प्रकट किये हैं, जिनके लिये मैं इन पुस्तकों के लेये मैं इन पुस्तकों के लेखकों का हार्दिक धन्यवाद गाता हूँ।"

२—मेरे इस व्रत में मेरे प्रेमी सत्संगी ला० गिरधारीलाल जी मल्होतरा, भूतपूर्व सुपरिंटैण्डेण्ट अकाउण्टैंट जनरल्ज आफिस, लाहौर और उनके सुपुत्र बाबू मुनीलाल जी रेंजर वन विभाग (जंगलात) तथा उनके परिवार ने जो सेवा की, और मेरे व्रत के निर्विघ्न समाप्त होने में जो सहायता दी, उसके लिये मैं उन सब का भी धन्यवाद गाता हूँ और प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह उन्हें अपनी आशीर्वाद से शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति से मालामाल करे !!!! ॐ शम् !!!!

टेकचन्द (प्रभु आश्रित)
हमीरपुर (कांगड़ा)

प्रथम आषाढ़ सं० १९९७ वि० तदनुसार १४ जून सं० १९४० ई० तिथि नवमी शुक्ल पक्ष शुक्रवार के शुभ दिन आरम्भ किया ॥

धन्यवाद प्रथम संस्करण

इस पुस्तक सहित जितनी भी पुस्तकें मैंने प्रभु-प्रसाद पाकर लिखी हैं, या लिखता हूँ वह बड़ी साधारण भाषा में होती हैं। उनके शीर्षक (सुर्खियाँ) क्रम (तरतीब) तथा लिपि की शुद्धि मेरे प्रेमी मित्र भक्त सोनूराम जी बी० ए० बी० टी० हैड-मास्टर करते रहते हैं। उनके छपवाने और प्रूफ आदि देखने-भालने तथा अन्य सब प्रबन्ध ला० रामचन्द्र जी मनचंदा तथा ला० जोधाराम जी बुद्धराजा क्लर्क रेलवे,लाहौर करते हैं। मैं इन तीनों का बड़ा आभारी रहता हूँ। मेरे पास सिवाय हार्दिक धन्य-वाद देने के और कुछ सामर्थ्य नहीं है। परमात्म देव उनके पवित्र विचारों को सदा उन्नत करते रहें और अपने आशीर्वाद से उन्हें परिवार सहित श्रद्धा, प्रेम और भक्ति-धन से भरपूर कर दें। यही मेरी हार्दिक इच्छा और कामना है।

(२) रायज़ादा शान्ति नारायण जी ने भी इस पुस्तक के भाषा-संशोधन में बड़ी सहायता की है उनका भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

(३) अपने सुपुत्र चि० लखपति जी शास्त्री, विद्यावाचस्पति, संस्कृत अध्यापक डी० ए० बी० हाईस्कूल मिंटगुमरी को भी आशी-र्वाद देता हूँ कि उन्होंने "सन्ध्या" शब्द की निरुक्ति मुझे कर दी है और श्री जगन्नाथ जी स्नातक गुरुकुल का भी धन्यवाद है कि उन्होंने इस निरुक्ति को ठीक जानकर हर्ष प्रकट किया और उसमें कुछ वृद्धि भी करदी॥

(४) कविराज पंडित दीनानाथ जी शास्त्री, वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदाचार्य, प्रोफैसर सनातनधर्म प्रेमगिरि आयुर्वैदिक कालिज लाहौर, का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के अनुवाद का संशोधन किया है और प्रूफ भी देखे हैं।

टेकचन्द (प्रभु आश्रित)

ओ३म्

मनुष्य जीवन यात्रा के लिये

सन्ध्या का सुन्दर क्रम

स्वा० दयानन्द सरस्वती जी महाराज का परमोपकार

सं०	उद्देश्य अथवा साधन	सन्ध्या मन्त्र	योग की परिभाषा में योग अंग का नाम
प्रथम उद्देश्य	सुख तथा शान्ति की प्राप्ति (शारीरिक नीरोगता, मानसिक स्थिरता, आत्मिक पवित्रता)	आचमन	उद्देश्य
द्वितीय साधन	बलवान् तथा यशस्वी जीवन (शारीरिक तथा मानसिक बल ही इस का परम साधन है)	अंग स्पर्श	यम नियम
तृतीय ,,	इस बल तथा यश की स्थिरता के लिये पवित्रता आवश्यक है।	मार्जन	आसन
चतुर्थ ,,	पवित्रता प्राप्ति के लिये तप आवश्यक है।	प्राणायाम	प्राणायाम
पंचम ,,	तप की सफलता के लिये मन को पापों तथा विषयों	अघमर्षण ३ मन्त्र	प्रत्याहार

		से दूर रखना आवश्यक है।		
षष्ठ	,,	–पाप से मनुष्य कैसे बच सकता है? जब अपने मन का सब द्वेष तथा अभिमान प्रभु अर्पण कर दे।	–मनसा परिक्रमा ६ मन्त्र	— धारणा
सप्तम	,,	–द्वेष तथा अहङ्कार से बचने का फल! प्रकृति से ऊपर, अपने आत्म स्रोत में स्थिति, निर्भयता, अदीनता तथा स्वावलम्बता की प्राप्ति।	—उपस्थान ४ मन्त्र	—ध्यान
अष्टम	,,	–उपर्युक्त सब गुणों को प्राप्त कर के पवित्र तथा निष्काम बुद्धि से प्रभु अर्पण हो जाना।	—गायत्री	— समाधि
अन्तिम		–धन्यवाद—धन्यवाद		—नमस्कार

ओ३म्

सन्ध्या सोपान

विषय प्रवेश

नई और पुरानी सभ्यता की खिचड़ी

रेलवे वर्कशाप से एक इञ्जीनियर साहिब निकले। झट अपने साइकल पर सवार हो कर घर पहुँच गये। घर के अन्दर आंगन में साइकल खड़ा कर दिया और आप रसोई की ओर गये। कोट, पतलून, बूट, हैट, पहने हुए थे। रसोई के द्वार में बूट समेत एक पैर रखा, दूसरा अभी बाहर ही था, कि रसोई में धर्म-पत्नी दिखाई दी। उसे देख कर बोले—"प्रिया जी! नमस्ते!"

देवी बड़ी सुशीला और कुलीना थी। अपने पतिदेव को देख कर उठ खड़ी हुई और बड़े सन्मान से हाथ जोड़ कर नमस्कार किया।

बाबू—कहो, प्रिया जी! कोई वस्तु तो बाजार से लाने को नहीं?

देवी—नहीं महाराज! आप विश्राम कीजिये!

बाबू—चाय तैयार है?

देवी—जी हां!

बाबू जी अपनी बैठक में चले गये, जिसे उन के आने से पहले ही उन की धर्मपत्नी ने साफ-सुथरा करके उन के अनुकूल बना रखा था। कुरसी पर बैठ गये। हैट मेज पर रख दी। कोट

खूंटी पर लटका दिया। इतने में एक बड़े थाल (Tray) में चाय के प्याले आदि और प्लेट में धरी कोई अन्य खाने की चीज भी आ गई।

देवी पंखा लेकर अपने पति को झोलने लगी और बाबू जी आनन्द से खाने-पीने और बातें करने लगे।

बाबू—अब पंखा लगवाना चाहिये। मालिक मकान तो मानता नहीं अतः अपने पास से ही एक (Table fan) मेज का पंखा ले आयें। आप को बड़ा कष्ट होता है।

देवी हंस पड़ी और कहने लगी--पंखा तो आप अवश्यमेव मोल ले आयेंगे, परन्तु इस से दो नुकसान होंगे। एक तो रुपये चट हो जायेंगे, दूसरा मेरा धर्म।

बाबू--(चकित होकर) भला रुपये तो चट हुए, किन्तु आप का धर्म कैसे चट होगा ? यह बात मेरी समझ में नहीं आई।

देवी—मेरा धर्म तो आप की सेवा करना है। फिर यह मैं कैसे कर सकूँगी ?

यह उत्तर सुनकर बाबू जी हँस पड़े और बोले–बड़ी सतयुग की सी बातें करती हो !

देवी मुस्करा के चुप हो गई। बाबू जी कुछ खा-पीकर और रुमाल से मुख पूछ-पांछ कर समाचार-पत्र पढ़ने में लग गये। धीरे धीरे शाम हो गई।

रसोई तैयार हो जाने पर देवी ने कहा—रसोई तैयार है। आप सन्ध्या कर लीजिये।

बाबू सन्ध्या

बाबू—तो आप भी आ जायं ! दोनों इकट्ठे ही सन्ध्या कर लेते हैं। आप मन्त्र बोलती जायँ और मैं साथ-साथ कहता जाऊँगा।

देवी–नहीं महाराज ! आप तो बाबुओं की-सी सन्ध्या करेंगे। घरड़ फरड़ ! मुझे उसमें आनन्द नहीं आयेगा, और वैसे भी देर लगेगी। मैं आप को खिला पिलाकर निश्चित हो कर ही अपनी सन्ध्या कर लूंगी।

बाबू—(मुस्करा कर) अच्छा ! अच्छा !! तुम्हारी इच्छा ! हम भी तुम्हारा पल्ला पकड़ कर पार लग जायँगे।

बाबू जी कसे-कसाये बड़े आराम से बैठे थे, कहने लगे—यह धर्म भी क्या स्यापा है ? अब बूट उतारने पड़ेंगे। हाथ मुँह भी धोना होगा। तब कहीं सन्ध्या होगी। अच्छा प्रिया जी ! जल तो भेज दीजिये।

बाबू जी ने कोट उतारा, परन्तु जुराबें और पतलून वैसे ही पहने रहे। देवी जी जल ले आईं तो बाबू जी ने कहा—नौकर के हाथ भेज देतीं।

देवी—मैं भी तो आप की सेविका ही हूँ।

बाबू जी—फिर नौकर किस लिए है ? आप के आराम के लिए ही तो नौकर रखा गया है।

देवी—मुझे भी तो उस से बहुत आराम है। मेरे लिये ही आप ने उसे रक्खा है। अपने लिए तो नहीं।

यह सुन कर बाबू जी हंस पड़े और सन्ध्या करने बैठ गये।

पांच-सात मिनिट में ही बाबू जी ने सन्ध्या समाप्त कर ली और फिर बोले—प्रिया जी ! खाना कहाँ दोगी ? अंदर या बाहर ?

देवी—जहां आज्ञा हो।

बाबू—अच्छा मैं ही बाहर आ जाता हूँ। आप टेबल (मेज) लगाइये ! मैं बूट पहन लूं।

देवी जी ने कुर्सी और मेज बाहर लगा दी और बाबू जी बूट पहन कर कुरसी पर आ बिराजे। देवी जी ने दाएँ हाथ में पानी का लोटा और बाएँ में चिलमची पकड़ ली। तौलिया मेज पर धरा ही था। हाथ धुलाने लगीं। बाबू जी ने हाथ धोकर हँसते-हँसते कहा—थैंक्स (धन्यवाद) !

देवी जी हँस पड़ी। देवी जी ने भोजन परोस बड़ी श्रद्धा और आदर से सामने लाकर रख दिया और उसी प्रकार पंखा हाथ में लेकर सेवा करने लगीं। बाबू जी ने मुस्कराते हुए प्रेम से कहा—"अब मैं आप की सेवा करूंगा। आप मुझ पर इतना भार न चढ़ाइये !"

देवी ने पूछा—आप मेरी क्या सेवा करेंगे ?

बाबू—बस चिकनी-चुपड़ी बातें बना कर खाना भी खाता रहूँगा और गप्पाष्टक भी सुनाता रहूँगा। सारा दिन आप घर की चारदीवारी में घुटी रहती हैं। अब मैं आप का दिल बहलाऊँगा। इस के सिवा और मैं क्या सेवा कर सकता हूँ ?

देवी—धन्यवाद ! कोटानुकोट धन्यवाद !

बाबूजी बड़े हंसमुख और सरल स्वभाव सज्जन थे। बातें

करते-करते भजन समाप्त कर लिया। जल पीकर कुरला (चुल्लू) किया, तौलिये से हाथ पूंछे। अन्दर जाकर छड़ी उठाई और कहने लगे—"अच्छा प्रिया जी! आपको तो अभी संध्या करनी है। नहीं तो मैं आप को भी बाग में सैर कराने ले जाता। मुझे तो आप पर बड़ा तर्स आता है। गरमी का मौसम है। सारा दिन घर में घुटी रहती हो। क्या अच्छा होता यदि आप भी मेरे ही साथ सन्ध्या करके खाना खा लेतीं। नौकर पीछे बरतन मांजता रहता और हम दोनों सैर कर आते। कुछ तो जीवन का आनन्द मिलता। वास्तव में सन्ध्या का भी समय वही था जब मैंने की थी। अब भी भला कोई समय है?"

देवी—भगवान्! आप की सेवा भी तो मेरी सन्ध्या का एक भाग है। आप मेरे पतिदेव हैं। मेरे साक्षात् देवता तो आप ही हैं। आप मेरा पालन पोतषण और रक्षण करते हैं। फिर आप की पूजा न करूँ तो कितनी कृतघ्नता होगी? प्रभु पूजा तो स्वीकार होगी भी या नहीं, इस का क्या निश्चय? वह तो इस आँख से दिखाई भी नहीं देते किन्तु आप तो मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। हां! यदि आप भी मेरे साथ वैसी ही प्रेम पूर्वक सन्ध्या करते जैसी मैं करती हूँ, तो मैं उस समय बैठ भी जाती। फिर इकट्ठे ही निबट कर सैर को भी जा सकते थे। परंतु ऐसे तो कठिन है।

बाबू–(उपहास भरे स्वर में) आप तो बड़ी ज्ञानिन हैं। यही सोच कर तो मैंने आप से विवाह कराया है, कि आप मेरी इस कमी को पूरा कर देंगी, क्योंकि पुरुष स्त्री की और स्त्री पुरुष

की कमी को सब प्रकार पूरा करते रहते हैं। मेरी इस कमी को यदि आपने पूरा कर दिया तो आप की बदौलत मेरी पूजा भी प्रभु को स्वीकार हो जायगी।

देवी की सन्ध्या और प्रार्थना

यह कहकर बाबूजी तो सैर को चल दिये और देवी जी हाथ मुँह धो कपड़े बदल (पूजा के कपड़े पहन) आसन बिछा, पलथी (चौकड़ी) मारकर प्रभु के दरबार में उपस्थित हो, सन्ध्या करने लगी। पर्याप्त देर तक सन्ध्या करने के उपरान्त बड़े प्रेम तथा श्रद्धा से उन्होंने इस प्रकार प्रार्थना की:—"हे मेरे नाथ ! मैं आप का बारम्बार कोटानुकोट धन्यवाद गाती हूँ। आप मुझे अपने पवित्र चरणों में वास दे रहे हैं। मुझे आपने अच्छे माता पिता दिये और उत्तम कुल में उत्पन्न किया। जो थोड़ी सी विद्या मुझे प्राप्त हुई, धन्यवाद है कि मुझे वह आप के पवित्र चरणों में ले जाती है। मुझे ऐसे पवित्र पतिदेव की शरण दी, जो हंसमुख सरल स्वभाव और मुझ पर सदा दयालु रहने वाले हैं। मैं आपकी आशीर्वाद से उन की छत्रछाया में बड़ी सुखी हूँ। परन्तु इस समय मैं इस निस्सहाय अवस्था को अनुभव करती हूँ कृपा कर के मेरे प्राण प्यारे पति के मन में भी आध्यात्मिक भूख उत्पन्न कीजिये। उन्हें भी अपने पवित्र नाम का दान दीजिये ! अपने पवित्र चरण कमल में उनकी भी प्रीति की लगन लगाइये ! उन की सहायता बिना मैं अधूरी हूँ ! निकम्मी हूँ। दया कीजिये, जिस से मुझ कोमल बूटी का सिंचन करने और हरा-भरा रखने वाले माली, मेरे पतिदेव भी आप की छत्रछाया को प्राप्त हों।

प्रभो ! मैं आप की शरण आई हूँ। आप से रक्षा और सहा-

यता चाहती हूँ। विवाह के समय मैंने जो प्रतिज्ञा करके कि—

ओ३म प्रमे पतियानःपन्थाः कल्पतां शिवा

अरिष्टा पतिलोकम् गमेयम् ॥

आप से यह प्रार्थना की थी कि—

शिवा अरिष्टा पतिलोकम् गमेयम्

अर्थात् मेरे पति का जो मार्ग (जीवन पथ) है, वैसा ही मेरा भी बने, जिससे मैं उन से सब प्रकार का सुख पाती हुई निश्चित होकर पूरी शांति से, सब के पति आप परमात्मा को प्राप्त हो सकूं।

अतः हे प्रभो! मैं आप को उस समय तक कैसे स्वीकार हो सकती हूँ, जब तक मेरे पतिदेव पर भी आप की दया न हो, उन के स्वीकार हो जाने पर ही तो मेरी भी स्वीकृति सम्भव है, अन्यथा मैं अभागिन आप के इस सौभाग्य को कैसे प्राप्त करूँगी यह मेरी समझ में नहीं आता।

ओ३म् इमं में वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।

त्वामवस्यु राचके ॥

॥ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

पहिली सीढ़ी

अशान्त मन

कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये। एक दिन जब बाबू जी अपने काम से लौटे तो उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी से नमस्ते तो की परन्तु कुछ उदास से चुपचाप बैठ गये। देवी ने कुछ मिनट तो यह प्रतीक्षा की कि वह चाय मांगेंगे, किंतु जब उन्होंने न मांगी, तो वह स्वयं चाय लेकर बैठक में पहुँची और जाकर यों बोली—सुख तो है? आज जी कैसा है?

बाबू जी—आज चित्त बड़ा अशान्त है।

देवी—क्यों?

बाबू जी—यह भी ज्ञात नहीं। दिन-भर काम पर जी लगा नहीं। किन्तु समय तो बिताना ही था, बिता आया। ड्यूटी देनी थी, दे आया।

देवी—कोई पत्र आया है, या किसी से कोई बात हो पड़ी? या कोई सरकारी बाधा खड़ी हो गई? आखिर कोई तो कारण अवश्य होगा?

बाबू जी—मैंने कहा तो है कि सारा दिन जी नहीं लगा, किन्तु कारण भी कुछ नहीं जान पड़ता। न कोई पत्र ही आया है, न किसी से कुछ बात ही हुई है। कोई सरकारी बाधा भी नहीं पड़ी, न कोई ऐसी आशंका ही है।

देवी—अच्छा ! तो फिर क्या चिन्ता है ? कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है। चाय तैयार है। पी लीजिये और वहम (भ्रम) न कीजिये। फिर चलिये, ज़रा सैर कर आएँ, तबीयत हरी हो जायगी।

चाय पीकर दोनों सैर को चल दिये परन्तु कोई भी प्राकृतिक वस्तु उस दिन बाबू जी का मन अपनी ओर आकर्षित न कर सकी। कुछ देर घूम-फिरकर दोनों घर लौट आये और साधारण-तया अपने-अपने कामों में लग गये।

दो-चार दिन इसी प्रकार अशान्ति में बीते, आखिर एक दिन देवी ने कहा—आप आठ-दस दिन की छुट्टी ले लें तो कहीं तीर्थ-यात्रा ही कर आयें, क्योंकि शारीरिक रोग के लिये पहाड़ की वायु और मानसिक रोग के लिये तीर्थ-स्थान का वास बहुत लाभकारी होता है।

बाबू जी बड़े सरल स्वभाव थे। यह विचार उनके भी पसन्द आ गया। अगले ही दिन जाकर छुट्टी के लिये प्रार्थना-पत्र लिख दिया। दो चार दिन में छुट्टी स्वीकार हो गई। दोनों ने तीर्थ-यात्रा की तैयारी की और रात ही को गाड़ी पर चढ़ कर प्रातः काल एक तीर्थ-स्थान पर पहुंच गये।

शान्ति की खोज

सन्ध्या समय था। पाँच बजे थे। देवी ने कहा—"चलो, ज़रा सैर कर आयें। शायद नदी के किनारे किसी साधु महात्मा के दर्शन हो जायँ"।

अस्तु, दोनों घूमते-फिरते प्रायः ६ बजे एक ऐसे स्थान पर

पहुँचे, जहाँ इर्द-गिर्द चारदीवारी थी। अन्दर एक छोटी-सी रमणीक वाटिका में फूस की एक कुटिया थी। वाटिका का द्वार खुला था। अन्दर गये तो वहाँ बिल्कुल चुपचाप सन्नाटा-सा छाया हुआ था।

कुटिया के पास पहुंचे, तो उसका छोटा-सा द्वार बन्द दिखाई दिया। इधर-उधर कई छोटी-छोटी खिड़कियां अथवा रोशनदान-से लगे थे। झांक कर अन्दर देखा तो एक श्वेत केश (सुफेद रीश) मुनि ध्यान में मग्न बैठे थे। कुटिया के बाहर चटाई पड़ी थी। स्थान बड़ा सुन्दर, साफ़-सुथरा और लिपा-पुता था। दोनों वहां बैठ गये। धीरे-धीरे और लोग भी युवा, वृद्ध, पुरुष-स्त्री, लड़के बाले आने लगे। चारदीवारी में पैर धरते ही सब चुपचाप हो जाते थे।

इधर-उधर फिर-फिरा कर कोई कहीं; कोई कहीं; जहां जिस का जी चाहा बैठता गया। कोई कुछ पढ़ने में लग गया, कोई सन्ध्या और कोई जप करने लगा। बाबू जी और उनकी धर्मपत्नी धीरे-धीरे यों बातचीत करने लगे :—

बाबू जी—स्थान तो बड़ा रमणीक है। यहां आते ही सच-मुच मेरे मन की सब अशान्ति दूर हो गई। अब चित्त बड़ा प्रसन्न है।

देवी यह सुनकर बड़ी खुश हुई। आनन्द-भरे स्वर में बोली–प्रभु का लाख-लाख धन्यवाद है, आइये! हम भी यहां ही सन्ध्या करलें। देखिये! कई सज्जन सन्ध्या कर रहे हैं। जान पड़ता है कि जब महात्मा जी बाहर निकलेंगे तो सत-संग भी अवश्य होगा, इसीलिये लोग एकत्रित हो रहे हैं। चटाइयां भी बहुत-सी पड़ी हैं।

दोनों ने नदी में हाथ-मुँह धोकर सन्ध्या आरम्भ कर दी।

मुनि जी ने सात बजे के लगभग द्वार खोला और बाहर आ गये।

सत्संग

सब लोग जो वहां आये हुये थे, आ आकर और दोनों हाथ जोड़कर 'नमस्ते' कर कर के चटाइयों पर बैठते गये। यह दोनों भी वहां पहुँच गये और बड़ी श्रद्धा से 'नमस्ते' करके एक ओर जा बैठे। नवयुवकों में कई एक कालिज के विद्यार्थी जान पड़ते थे; जो शायद गरमियों की छुट्टियां वहाँ काटने आये थे। उनमें से एक बोला—"महाराज ! आपने तो सन्ध्या करते हुये बड़ी देर लगा दी। हम तो कभी के कर बैठे ! जितने आदमी भी यहाँ आते गये, सबने ही सन्ध्या की और सब की ही समाप्त हो गई, परन्तु आपने तो पूरे दो घण्टे ही लगा दिये। क्या आप की सन्ध्या कोई और सन्ध्या है ? या आप समाधि में चले गये थे ?"

वानप्रस्थी मुनि जी—(मुस्कराते हुये) पुत्र ! तुमने कौन सी सन्ध्या की है ?

युवक—वही वैदिक सन्ध्या । "शन्नो देवीरभिष्टये" वाली !

सन्ध्या शब्द के अर्थ

वनी—ठीक ! ठीक !! किन्तु तुम्हें 'सन्ध्या' शब्द के अर्थ भी आते हैं ?

युवक—नहीं, महाराज ।

वनी—(और लोगों से) आप में से किसी भाई को आते हैं ?

यह प्रश्न सुन कर कुछ देर तक तो सब लोग चुप रहे, अन्ततः वही देवी (जिस के साथ हम यहाँ पहुँचे हैं) हाथ जोड़ कर बड़े

नम्र भाव से बोली—"भगवन् ! 'सन्ध्यायन्ति—इति सन्ध्या' अथवा 'सन्ध्यायते वा परं ब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या' अर्थात् जिस विधि से भली भांति परमेश्वर का ध्यान करते हैं या किया जाय, वही 'सन्ध्या' है।

वनी—शाबाश ! पुत्री शाबाश !!

सब नवयुवक उस देवी की ओर आश्चर्य से देखने लगे। आखिर उनमें से एक मन-चला न रह सका, वह बोला—बहन जी ! आपने कहाँ तक शिक्षा पाई है। हम तो कालजियेट (कालिज के विद्यार्थी) हैं। छुट्टियाँ गुज़ारने और सत्संगादि का लाभ उठाने यहाँ चले आये हैं। हम में से कोई एफ० ए० में पढ़ता है, कोई बी० ए० में। एक दो एम० ए० में भी पढ़ते हैं।

देवी—(लज्जा भरे स्वर से) भ्राता जी ! मैं तो बहुत ही साधारण सा पढ़ी हूँ। मैंने संस्कृत में प्राज्ञ, हिन्दी में रत्न और अंग्रेजी में केवल मैट्रिक पास किया है। सन्ध्या के मन्त्रों के अर्थ भी पूरे पूरे नहीं आते। 'सन्ध्या' शब्द के यह अर्थ भी एक उपदेश में सुने थे, वह याद आ गये। नहीं तो स्कूलों और कालिजों में यह कौन बतलाता है ?

सन्ध्या, प्रार्थना और स्तुति

युवक—तभी तो महाराज, मैं अपनी ही भाषा में प्रार्थना कर लिया करता हूँ। जिस चीज़ की समझ भी नहीं, अर्थ भी नहीं आते, यह भी पता नहीं कि हम क्या कर रहे हैं, उसे तोते के समान रट लेने से भला क्या लाभ ?

वनी—तुम कौनसी प्रार्थना करते हो?

युवक—एक ओंकार, सत्त नाम, कर्ता पुरख, निर्भौ, निर्वैर, अकाल मूरत, अजोनी, सैभंग, गुर परसाद, जप···।

वनी—बेटा! भाव तो तुम्हारा निश्चय शुद्ध है, परन्तु यह प्रार्थना तो नहीं, और न यह तुम्हारी अपनी भाषा ही है।

युवक—फिर यह क्या है? महाराज! यदि प्रार्थना नहीं तो।

वनी—यह प्रभु की स्तुति है। अच्छा अब यह बतलाओ कि इनमें कौनसा शब्द आप की अपनी भाषा अर्थात् पंजाबी का है? हमें तो ये सभी शब्द संस्कृत के और वह भी वैदिक संस्कृत के जान पड़ते हैं। निःसंदेह इन का उच्चारण कुछ कुछ बदला हुआ है।

युवक—(आश्चर्य से) क्या सब के सब?

वनी—हां! सब के सब। नहीं तो 'सैभंग' के अर्थ ही आप में से कोई बतला दे। आप तो सब के सब पंजाबी ही हैं।

सब चुप रह गये। अन्ततः एक सज्जन ने कहा—"महाराज! हमने तो यह शब्द कभी बोला नहीं और सुना भी नहीं।"

वनी—सुन लिया भाई! यहाँ भी तुम्हारी भूल ही है। अपनी भाषा तो वह है, जिसे हम सहज में समझ सकें। जिसके लिये हमें कोई कोष (डिक्शनरी) न देखनी पड़े। अच्छा बेटा अब तुम बतलाओ इस शब्द के अर्थ।

युवक—महाराज ! महाराज मुझे भी नहीं आते।

दूसरा युवक—किन्तु महाराज ! क्या प्रार्थना कुछ और है और स्तुति और ?

तीन मार्ग

वनी—हाँ बेटा ! इन दोनों में बहुत भेद है, और सन्ध्या इन दोनों से ही अलग है। वास्तव में ये तीन मार्ग हैं। एक कर्म, दूसरा उपासना, तीसरा ज्ञान। फिर उपासना के तीन भाग हैं, प्रार्थना, स्तुति और सन्ध्या।

प्रार्थना—तो वह होती है जिसमें भक्त या उपासक अपने प्रभु से कुछ याचना करता है, मांगता है, जैसे प्रभो ! मुझे बल दो। विद्या दो ! ज्ञान दो ! सुख दो ! धन और ऐश्वर्य आदि की याचना ये सब प्रार्थना कहलाती हैं।

स्तुति—वह है जिसमें प्रभु के गुण गान किये जाते हैं। जैसे प्रभो ! आप दयालु हैं, न्यायकारी हैं, सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् हैं इत्यादि। या जैसा कि इस युवक ने कहा है—'एक ओंकार सत्त-नाम'। इसमें एक ओंकार के अर्थ हैं—उस प्रभु का नाम 'ओ३म्' है जो एक है। आगे उसके दूसरे विशेषणों का वर्णन है, अर्थात् वह प्रभु जिसका नाम 'ओ३म्' है, वह सत्य है। वही सृष्टि का कर्ता पुरुष है। किसी से उसे भय नहीं, किसी से वैर नहीं, वह मृत्यु से परे है। अशरीरी है। जन्म से रहित है। "सै भंग" शब्द वास्तव में स्वयम्भू है, जिसके अर्थ हैं, अपने आप होने वाला। वही गुरपरसाद अर्थात् सच्चा गुरु है, उसी का जाप करना उचित है। अर्थात् प्रभु के विशेष गुणों की सराहना और गुणों वर्णन ही 'स्तुति' कहलाती है।

सन्ध्या—अब रह गई 'सन्ध्या' इस में प्रभु का ध्यान किया जाता है।

तीसरा युवक—महाराज ! मैं तो सन्ध्या आदि पर कोई विश्वास (फेथ) रखता नहीं। मैं तो यह समझता हूँ, कि हमें सदैव शुभकर्म करते रहना चाहिये। परमात्मा को हमारी सन्ध्या अथवा प्रार्थना की कोई आवश्यकता ही नहीं और न हमें ही है। यदि हमारे कर्म बुरे हों तो भी क्या इन से कोई लाभ हो सकता है ? हां ! यदि समाज के विचार से या मजहब (धर्म या सम्प्रदाय) के नाम पर कुछ करना आवश्यक हो तो अपनी मातृभाषा अर्थात् हिन्दी, पंजाबी या किसी अन्य स्थानिक भाषा में ऐसे शब्दों में प्रार्थना कर लेनी चाहिये जो अपनी अन्तर आत्मा से निकले।

क्षमा करना ! मैं नास्तिक नहीं। ईश्वर को मानने वाला हूँ और प्रार्थना भी प्रतिदिन करता हूँ, किन्तु न तो 'विश्वानिदेव' आदि मन्त्रों में से ही और न 'शन्नो देवी' के मन्त्रों से ! वरन् मैं प्रति दिन अपने ही शब्दों में प्रभु से यह प्रार्थना करता हूं कि—

"हे प्रभो ! मुझे शक्ति दो कि मैं संसार का उपकार तथा सेवा कर सकूं ! मुझे सुमति दो कि मैं संसार के कल्याण और भलाई के लिये कुछ सोच सकूं, और कोई बुरा विचार मेरे मन में पैदा न हो। मेरे शरीर और शरीर की समस्त इन्द्रियां पवित्र हों, सुदृढ़ हों और नीरोग रहें, जिससे मैं यह सद्‌व्यवहार सदा करता रहूं। जो पदार्थ मेरे जीवन के लिये आवश्यक हों, वे सब के सब मुझे प्रदान कीजिये, जिस से मैं स्वयं उन से सुख भोगूं और दूसरों

को भी सुखी कर सकूँ ।"

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!"

वनी—मैं तुम्हारी बातों से बड़ा प्रसन्न हूं। तुम्हारे भाव बड़े श्रेष्ठ हैं। तुम बहुत समझदार जान पड़ते हो। किन्तु फिर भी मैं तुम में थोड़ा सा परिवर्तन देखना चाहता हूं, यदि पसन्द आये और उस में कुछ लाभ समझो, तो कर लो, नहीं तो न सही। यही पर्याप्त है। जो भी हो, तुम्हारे भाव मुझे बड़े प्यारे लगते हैं।

युवक—अवश्य, अवश्य महाराज! जब आप मेरे हित की बात करते हैं, तो मैं क्या इतना मूर्ख हूँ, कि अपनी भलाई की बात को भी न सुनूँगा और उसे पसन्द न कर के, उसके अनुकूल कार्य न करूँगा ?

वनी—अच्छा! पहले यह बतलाओ कि तुम क्या काम करते हो ?

युवक—मैं बी० एस० सी० (B. S. C.) में पढ़ता हूँ।

सन्ध्या प्रार्थना कब स्वीकार समझी जाय ?

वनी—यह तो तुम जानते ही हो कि जो लोग मन्त्रों की सहायता से सन्ध्या या प्रार्थना करते हैं, उन का भी इन शब्दों से यही अभिप्राय होता है, जो तुमने कहा है। परन्तु वे इन मन्त्रों के अर्थों को जानते नहीं और आप उन का ठीक-ठीक आशय जान कर उसे अपने शब्दों में कह देते हो। किन्तु सन्ध्या में और भी बहुत सी जानने योग्य बातें, तुम्हारे इन शब्दों से बढ़कर हैं। निस्सन्देह सन्ध्या करने वाले शब्दों के अर्थ तो नहीं जानते, परन्तु

उन की प्रभुभक्ति-भावना शुद्ध ही होती है। कर्तव्य-पालन और परमात्मा की समीपता से पवित्र बनने की इच्छा भी उन में होती है और ऐसी ही आप की भी है, अतः यदि इन दोनों में से किसी में प्रभु के गुण आ रहे हैं या उन गुणों को कोई धारण कर रहा है, और उनके अनुकूल कार्य भी कर रहा है, तो समझो कि यह सन्ध्या या प्रार्थना चाहे यह वैदिक शब्दों में हो या अपनी भाषा में, स्वीकार हो गई है, अन्यथा नहीं और दोनों ही कोरे-के-कोरे हैं।

कर्म-मार्ग

यह बात भी तुम्हारी ठीक है कि हमें शुभ कर्म करने चाहियें। भक्ति और पूजा का आशय भी यही है कि मनुष्य के कर्म शुभ होते जायँ। यदि कर्म शुभ नहीं बनाये, तो सन्ध्या आदि में केवल समय ही व्यर्थ खोया।

कर्म, उपासना और ज्ञान

अब दो बातें विशेषतः विचारणीय हैं। एक तो यह कि कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों के फल जुदा-जुदा हैं। *शुभ कर्म* से संसार के प्राणी प्रसन्न होते हैं। *उपासना-भक्ति* से प्रभु प्रसन्न होते और *ज्ञान* से अपनी आत्मा प्रसन्न होती है। अतएव मनुष्य को नित्य प्रति शुभ कर्म अर्थात सद्व्यवहार, दीन दुःखी की सेवा इत्यादि तथा प्रभु-भक्ति अवश्य करनी चाहिये और साथ ही इस से अपनी ज्ञान-वृद्धि भी।

मनुष्य मनुष्य में अन्तर

जो यह तीनों काम रीति, नीति और प्रीति से धर्म समझ कर करेगा वही देवता पुरुष बन जायेगा। जो मनुष्य यह दोनों कार्य

अर्थात् भक्ति और कर्म करता है वह पहले नम्बर पर और *श्रेष्ठतम* पुरुष है। जो प्रभुभक्ति नहीं करता और दिन-रात शुभ कर्म करते रहना ही अपना कर्तव्य समझता है वह दूसरे नम्बर पर और *उत्तम* पुरुष है। जो प्रभुभक्ति मन से करता है किन्तु कोई शुभ कर्म नहीं करता वह तीसरे नम्बर पर और *मध्यम* पुरुष है। और जो प्रभुभक्ति दिखावे के लिये करता है और शुभ कर्म भी दिखावे के लिये करता है वह चौथे नम्बर पर है और *अधम* पुरुष है।

परन्तु यह सभी अपने जीवन को उन्नत करते रहते हैं। इन के अतिरिक्त (अ) जो मनुष्य केवल इसलिये भक्ति करता है कि उस के दैनिक पापों में कुछ कमी होती रहे या भक्ति से उन का उतारा होता जाय, किन्तु वह पाप छोड़ना ही नहीं चाहता, वह जीवन में असफल (फेल) है और पहले नम्बर पर। (आ) जो आदमी केवल लोगों पर विश्वास जमाने के लिये प्रभुभक्ति करता है और उसी आड़ में लोगों को ठगता है। मक्कारी और छल से पाप करता है, वह असफल है दूसरे नम्बर पर। (इ) किन्तु जो पुरुष दिन रात पाप ही पाप करता है और प्रभु का नाम लेने तक का विचार भी कभी मन में नहीं लाता, वरन् सदैव पाप में ही डूबा रहता है, वह अति अधम है।

अतः सभी मनुष्यों को और विशेषकर नई सभ्यता वालों को सदैव आदर्श-जीवन वाले महापुरुषों को अपने सामने रखना चाहिये और उसी अनुमान से अपने कर्मों की नाप-तोल कर के

दिन रात परोपकार करते रहने के लिये नित्य प्रति ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करनी चाहिये और जो भी शुभ कर्म वह अपने शरीर से कर सकें, उन के लिये सदैव प्रभु का धन्यवाद करते रहना चाहिये। यही उन की प्रभुभक्ति है।

यह भी याद रहे कि भक्ति और परोपकार दोनों सत्कर्म हैं। (अ) जो मनुष्य नित्य प्रति प्रभुभक्ति करता है किन्तु परोपकार या सेवा का कोई काम प्रति दिन नहीं करता, वह उस आदमी से फिर भी अच्छा है, जो नेक काम या परोपकार कभी-कभी करता है, किन्तु प्रभुभक्ति कभी नहीं करता। इसलिये सभी को थोड़ा बहुत देश, काल और अपनी शक्ति अनुसार नित्य प्रति परोपकार और सेवा का काम करते रहना चाहिये।

(आ) जो मनुष्य केवल प्रभुभक्ति करता है, वह भी केवल एक ही शुभ कर्म करता है।

(इ) इस भक्ति के साथ ही साथ जो नेक काम और उपकार भी करता है, वह दो शुभ कर्म करता है।

इसलिये जिस आदमी से जिस दिन यह दोनों कार्य इकट्ठे न बन पड़ें उसे यह समझना चाहिये कि आज मुझ में जीवन और प्राण सर्वथा नहीं, और मैं केवल शव (मुर्दे) के समान हूं।

(ई) जो मनुष्य इन दोनों में से कोई सा एक शुभ कर्म करे, चाहे वह भक्ति हो या सेवा कर्म, वह अपने आप को अधमरा जाने।

(उ) और जो दोनों ही कर सकें, वही अपने को जीवित समझे। सदैव अपने मन में यह विचार कर कार्य करने वाला

ही संसार में उत्तम जीवन व्यतीत कर सकता है।

जीवित वाणी

अब दूसरी बात यह है कि प्रभुपूजा किस भाषा या किन शब्दों में हो ? यह ठीक है कि परमात्मा तो सभी भाषाओं को जानते हैं और सबके भावों को ही समझते हैं, परन्तु बेटा! वाणी वाणी का प्रभाव भी अलग अलग होता है और प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य, भाव अथवा लक्ष्य भी बड़ा उच्च और सर्व श्रेष्ठ होना चाहिये। केवल विवशता, समय काटना, आलस्य तथा प्रमाद ही नहीं होना चाहिये।

आज जो साधारण शब्द महात्मा गांधी जी के मुखारविन्द से निकलते हैं, समस्त संसार उन शब्दों को ध्यान से सुनता और नोट करता रहता है, तथा उचित समय पर उन्हें प्रमाण रूप से पेश करता है। किन्तु वही शब्द यदि मैं या आप में से कोई साधारण व्यक्ति कहे तो उसका मूल्य कुछ भी नहीं पड़ता।

इसी प्रकार प्राचीन सन्त महात्माओं के वाक्य भी आज संसार रटता है। प्रत्युत उन्हीं के द्वारा प्रभु का पूजन भी होता है। वह शब्द हैं तो साधारण, परन्तु उन में आत्मा भरी पड़ी है अर्थात् हमारे शब्द निर्जीव होते हैं और उनकी वाणी जीवित मानी जाती है और एक दो वर्ष तक ही नहीं, वरन् युगों तक वही वाणी *अमर वाणी* बन कर लोगों का कल्याण करती है। उसमें कितना रस, कैसा मिठास और कितना प्रेम पाया जाता है ? इसीलिये तो नित्य प्रति लोग उसे गाते हैं, और जितनी वार भी बोलो, उतना ही अधिक रस और आनन्द आता है।

इस का कारण केवल यही है कि वह उन पवित्र हृदयों से

निकली है, जिन्होंने जन्म-जन्मान्तर की घोर तपस्याओं से अपने आप को पवित्र कर लिया है और जिनमें प्रकाश हो गया है। उनके शब्द अनुभूत (कमाये हुए) और साक्षात् किये हुए हृदय से निकले हैं, इसीलिए वे रस तथा प्रभाव से भरपूर होते हैं।

अब इस से ऊँची वाणी वेद *की पवित्र वाणी* है, जो निर्विकार, निरंजन, ज्योति स्वरूप प्रभु ने स्वयम् प्रदान की है। परन्तु किन को ? उन महान् तपस्वी, परम पवित्र और महा पुनीत महर्षियों के हृदयों में, जिन्हें आदि सृष्टि में बिना किसी गन्दगी और अपवित्रता के स्वयम् प्रभु ने अमैथुनी सृष्टि के समय उत्पन्न किया। जिन के माता-पिता कोई मनुष्य नहीं थे, वरन् स्वयम् परमात्मा ही थे, जो शुद्ध तथा निरंजन हैं। उन्हों ने यह वाणी उस समय प्रदान की, जब और कोई भी शब्द संसार में नहीं आया था न कोई और भाषा ही किसी मनुष्य, किसी जाती या किसी देश की थी। इसीलिए उस वाणी का नाम देव*वाणी* अर्थात् दिव्यगुण वाली वाणी कहा जाता है, जिसमें किसी भी प्रकार की कमी, दोष कच्चाई या मिलावट नहीं, इसीलिए पीछे से इस का नाम 'संस्कृत' अथवा संस्कार की हुई अर्थात् मांजी हुई वाणी पड़ गया।

यह वाणी प्राकृतिक भाषाओं की वाणी नहीं। कारण, हमें प्रकृति से ऊपर ऊंचा चढ़ना है। अतः हमें इस देव वाणी को अवश्यमेव अपनाना चाहिये।

शब्द में बोलने वाले का आकार

एक और एक बात बड़े मर्म की है, उसे ध्यान से सुनो। प्रत्येक शब्द में उसके बोलने वाले का आकार गुप्त रहता है। जैसे बहुत दूर एक पुरुष वृक्ष काट रहा है। हमारे नेत्रों ने अभी उसको

देखा नहीं, केवल शब्द ही आ रहा है। हम तत्काल कह देते हैं कि कोई मनुष्य कुल्हाड़े से वृक्ष काट रहा है। जो कुल्हाड़ा वृक्ष से लग कर यह शब्द उत्पन्न करता है उस का रूप तुरंत हमारे मस्तिष्क में जाता है।

प्रति दिन हम यह देखते हैं कि गृह-स्वामी घर से बाहर किसी से बातें कर रहा है। उस का शब्द सुन कर ही बालक घर में बैठा यह कह देता है कि पिता जी आ गये। उन की आवाज आ रही है। बालक ने यद्यपि देखा नहीं किन्तु शब्द सुनते ही उस के पिता का आकार उसके मस्तिष्क में आ गया।

हिन्दू गृहस्थ में प्रायः पुरुष जब घर में जाते हैं, तो द्वार से बाहर ही जोर से खांसते हैं और उस खांसने का शब्द सुनते ही घर में यदि कोई देवी निस्संकोच अवस्था में होती है, तो वह अपने वस्त्रादि सम्भाल लेती है या शीघ्र ही ओट में चली जाती है। कुछ लोग तो अपनी चाल से ही पहचान लिये जाते हैं। जहां इनके बूट की आवाज आई, घर के आदमी कह देते हैं "लो, अमुक आ रहे हैं!"

मैंने कई बार सुना है कि रेल के इंजन की आवाज सुनते ही रेल वाले वस आवाज को पहचान कर यह कह देते हैं कि "फारटी थिरीअप" (Forty three up) या "टवेंटीफोर डाउन" (Twenty four down) ❀ आ रहीहै। मोटर वाले मोटर के हार्न (Horn=भोंपू) का शब्द सुन कर दूर से ही बतला देते हैं कि

❀ रेल गाड़ियों के नम्बर, जिन से विभिन्न गाड़ियां पुकारी जाती हैं।

अमुक साहिब की मोटर आ रही है। इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि शब्द में ही उसके बोलने वाले का आकार छिपा रहता है। अब तो अमेरिका वालों ने रेडियो के साथ ही साथ "टेली-वियन" "Tele Vision" भी बना डला है, जिस में बोलने या गाने वाले के शब्द के साथ ही उस का आकार और उसके सब हाव भाव भी साफ दिखाई देते हैं। अतःप्यारे भाइयो ! यदि आप यह चाहते हैं कि आप को परमात्मा का साक्षात्कार हो और आप उसे अपने हृदय में अनुभव करने लगें, तो इस यथार्थ सत्य को गांठ बांध लें कि वेद के इन पवित्र शब्दों को परमात्मा ने स्वयम् उन पवित्र ऋषियों के पवित्र हृदयों में शब्दार्थ ज्ञान के रूप में प्रकट किया था और इन शब्दों के द्वारा ही एक उपासक प्रभु का साक्षात् सहज में कर सकता है, शर्त केवल यह है कि उस के मन में एक सच्ची लगन पैदा हो जाय।

पिण्डे सो ब्रह्माण्डे

इसके अतिरिक्त एक और बात भी सदैव याद रखो ! वह यह कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वही मनुष्य के पिण्ड (शरीर) में भी है। यह ब्रह्माण्ड वेद का नकशा (चित्र) और ठीक नकशा है। मनुष्य के पिण्ड की रचना, नस, नाड़ी, रग, रेशा तार तार की बनावट वेद के पवित्र मंत्रों की बनावट के ठीक समान है। यदि छन्दों तथा स्वरों का ज्ञान हो तो मनुष्य के जीवन तन्तु शब्दों के वैसा ही बोलने और सुनने से निरोग रहें। यह तत्व भी गुप्त न रहे कि प्रत्येक वैदिक शब्द अपने आप में पूर्ण

है । जिस शब्द से जो काम लिया जाता है, या वह जिस कार्य के लिये है, उस से उस का वही अर्थ भी निकलता है। किन्तु दूसरी भाषाओं के बोलने और लिखने में धरती आकाश का अन्तर है अर्थात् उन के शब्द तथा कार्य्य में बड़ा भेद है। जहां शब्द (वाक्य) और कार्य्य में भेद हो वह सत्य नहीं होता, असत्य होता है। उदाहरण रूपमें अंगरेजी के शब्द लैफटिनैण्ट(lieutenant) को ही ले लीजिये। बोलने में तो यह "लैफिटिनैण्ट" है परन्तु लिखने में "ल्यूटिनैण्ट" आता है। मानो स्वरों के भेद को छोड़-कर "फ" भी इसमें कहीं नहीं, परन्तु बोला अवश्यमेव जाता है। इसी प्रकार नाईट (Knight) शब्द में के (k) एच (h) और जी (g) स्पष्ट धरे हैं किंतु बोले नहीं जाते। ऐसे ही फारसी अक्षर अलिफ़ (।) में केवल "अ" अक्षर है परन्तु बोला जाता है "अलिफ़"। इस में न जाने यह "लिफ़" कहां से और क्यों आ गया ? इसी प्रकार दूसरी भाषाओं के अक्षरों और शब्दों को भी परख लो। फिर संस्कृत लिपि के अक्षरों और उसके शब्दों पर विचार करो।

देखो ! उर्दू में "कंगन" बोलने और लिखने में कितना भेद है ? अतः जो भाषा अपने ज्ञान और कर्म में एकता नहीं रखती, वह अवश्यमेव अशुद्ध अर्थात् रजोगुणी या तमोगुणी है। वह सतोगुणी नहीं मानी जा सकती।

हिन्दी में जैसा लिखा जायगा' वैसा ही बोला जायगा। यह नहीं कि लिखा कुछ और जाय और बोला कुछ और ! अतःअब आप यह स्वयमेव निर्णय कर लें कि प्रार्थना किन शब्दों और किस भाषा में होनी चाहिये ? और हमें किस लिपि को श्रेष्ठता देकर अपनाना चाहिये ?

यह बातें हो ही रही थीं कि इतने में कई बानप्रस्थी और ब्रह्मचारी आ गये और प्रणाम कर के बैठ गये। मुनिवर ने दूसरे लोगों को सम्बोधन कर के कहा "अब आप जाइये ! आज का सत्संग समाप्त हुआ ?"

यह सुनकर एक युवक बोला "महाराज ! हम यात्री हैं। यदि हमें स्थान मिल जाय तो यहां ही ठहर जायं और आप के सत्संग का भी परम लाभ प्राप्त करते रहें ?

मुनि—यह आश्रम है। यहां बानप्रस्थी और ब्रह्मचारी रहते और अनुष्ठान करते हैं।

युवक—महाराज ! हम भी तो ब्रह्मचारी ही हैं।

मुनि—क्षमा करना ! यद्यपि आप लोग नियम पूर्वक विवाहित नहीं, परन्तु ब्रह्मचारी भी नहीं कहला सकते। ब्रह्मचर्य्य की महिमा बड़ी पवित्र, उच्च और महान् है। क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि उस के और तुम्हारे स्कूलों तथा कालिजों के नियमों में धरती आकाश का अन्तर है। यहाँ का वायु मण्डल बड़ा पवित्र है। इस का यह थोड़ा सा भाग ही (सत्संग के समय का) तुम्हारे लिये बड़ा पर्याप्त है। प्रातःसमय वा सायं समय जब जी चाहे, आ जाया करो।

यह मीठा झाड़ सुनकर सब चुप चाप चले गये और रात्रि को विचार करने लगे कि सवेरे किस समय चलें ?

एक ने कहा—सवेरा तो होने दो, अभी तो आये ही हैं। सवेरे खा पी कर चलेंगे। हमें तो मुनि जी से केवल वार्तालाप ही करनी है, कोई अनुष्ठान तो करना ही नही।

दूसरा बोला—भाई ! आये हैं तो कुछ लाभ उठा जायं। मुनि

जी बड़ी वैज्ञानिक बातें बतलाते हैं।

तीसरे ने पहले युवक की ओर इशारा कर के कहा—भाई! यह सवेरे जाय तो जाय। महाशय आदमी है। हवन भी रोज़ करता है और इसे सन्ध्या तथा जप की भी बड़ी लगन है। इसका पिता भी पक्का आर्य्य समाजी, अपने नगर की समाज का प्रधान है। फिर इसने फ़िलास्फ़ी भी ले रखी है। इस विज्ञान से तो इस को बड़ा लाभ होगा। हमारा क्या है? सुना सुना, न सुना तो न ही सुना। इसे तो सन्ध्या का रहस्य समझना है। इसी लिये तो संस्कृत और हिन्दी भी पढ़ता है। गुरुकुल की भी खाक छानी है। क्यों भाई भीमसेन! जाओगे ना? क्या सलाह है?

अपने साथी के उपहास भरे और चुभते हुये शब्दों का भीमसेन पर कुछ उलटा ही प्रभाव पड़ा और उन्होंने उस के इरादे को और भी पक्का कर दिया, अतः उसने गर्वपूर्ण स्वर में उत्तर दिया—"क्यों नहीं? तुम जो भी चाहो, कहो! मैं तो अवश्यमेव जाऊँगा। मुझे आज भी बहुत कुछ मिल गया है और मेरे बहुत से संशय निवृत्त हो गये हैं।

इस पर उसी विद्यार्थी ने कहा—"अच्छा तो हम भी वहाँ अवश्यमेव पहुँचेंगे और तुम्हारे मुनि जी का ज्ञान विज्ञान देखेंगे। ऐसे प्रश्न करेंगे कि वह भी याद रक्खेंगे।

ओ३म्

दूसरी सीढ़ी

सन्ध्या-सिद्धि

देवी तथा बाबू जी ने रात्रि को अपने डेरे में, जहां वे उतरे थे, यह विचार किया कि हमारी तो छुट्टी केवल दस दिन की ही है। जिस में एक दिन तो बीत ही गया, एक दिन जाने में लग जायगा। केवल आठ दिन शेष हैं अतः हमें सवेरे-सवेरे ही आश्रम पर पहुँच जाना चाहिये।

अस्तु, दोनों अगले दिन बड़े तड़के अपने डेरे से चल पड़े। किन्तु जब कुटिया पर पहुँचे, तो वहां उन से भी पहले एक नव-युवक कापी हाथ में लिये बैठा था यह भी 'नमस्ते' कर के बैठ गये। वह नवयुवक जप करने लगा, तो यह दोनों भी जप में लग गये। थोड़ी देर पीछे प्रायः छः बजे, कुटिया के अन्दर से भजन गाने की आवाज आने लगी। मुनिवर अपनी ध्यान क्रिया को समाप्त कर के आनन्द से प्रभु अराधना कर रहे थे:—

जब ग़म नहीं था तेरा, ग़म में पड़ा हुआ था।
ग़मगीन तेरे ग़म में, ग़म से बरी हुआ हूँ॥*
जब बेफिक्र था तुझ से, फिकरें लगी हुई थीं!
जब से है फिक्र तेरा, बे फिक्र हो गया हूँ॥
जब भय नहीं था तेरा, भयभीत हो रहा था।
जब भय हुआ है तेरा, निर्भय हुआ हूँ॥

*बरी=दूर

जब तक नहीं दिया धन, निर्धन बना हुआ था ।
सब कुछ तुझे ही दे कर, अब मैं धनी हुआ हूँ ॥
हंसता था रात दिन मैं, दिल में खुशी नहीं थी ।
रो रो के तेरे गम में, अब खुश हो रहा हूँ ॥

अन्तिम मिसरा (पद) गा कर "ॐ ॐ" कहते हुये मुनिवर ने अपनी कुटिया के पट खोल दिये। यह तीनों झट पट अन्दर प्रविष्ट हुये और मुनिवर के पास जाकर प्रणाम कर के बैठ गये। मुनिवर ने मुस्करा कर पूछा—"बड़े सवेरे आ गये ?"

देवी—हां महारा ! हमारी छुट्टी बहुत थोड़ी है, अतः हमें तो आपका पर्याप्त समय लेना है ।

वनी—(नवयुवक से) और तुम भाई कैसे आये ? तुम्हारा नाम क्या है ? क्या पढ़ते हो ?

सन्ध्या शब्दार्थ सम्बन्धी कुछ आवश्यक प्रश्न

नवयुवक—महाराज ! मेरा नाम भीससेन है। मैं एफ. ए. सैंकिड इयर में पढ़ता हूँ। प्रभु की कृपा से मैं सन्ध्या भी प्रति दिन करता हूँ और जप भी। अग्निहोत्र किये बिना मैं रोटी नहीं खाता। परन्तु यह सब कार्य केवल पाठ मात्र ही होते हैं। आप के कल वाले उपदेश अमृत से मेरे बहुत से प्रश्न हल हो गये, परन्तु कुछ अभी शेष हैं। इसलिये आज मैं इतने सवेरे आ उपस्थित हुआ हूं। कल आप ने कहा था कि वैदिक शब्द अपने आप में पूर्ण हैं और सब भाषायें अपूर्ण। अतः मैं केवल अपनी जानकारी के लिये यह पूछना चाहता हूं कि सन्ध्या शब्द यदि पूर्ण है तो इसके अर्थों में उन सभी प्रश्नों के उत्तर अपने आप निकलने चाहिये, जिन का सन्ध्या से गहरा सम्बन्ध है, जैसे (१) सन्ध्या

का अर्थ क्या है ? (२) सन्ध्या क्यों करनी चाहिये ? (३) किस की करनी चाहिये ? (४) किस से करनी चाहिये ? (५) किस को करनी चाहिये ? (६) किस समय करनी चाहिये ? (७) कितनी देर तक करनी चाहिये ? इत्यादि इत्यादि ।

वनी—(प्रसन्न होकर) शाबाश ! शाबाश !! अच्छे प्रश्न किये । सन्ध्या का अर्थ तो तुमने सुन ही लिया था ।

'सम्यकृतया ध्यायते या सा सन्ध्या'

भली प्रकार ध्यान करना, भलाइयों को ध्यान में रखना, भलाइयों का चिन्तन करना। अतः अब अपने दूसरे प्रश्न को लो !

२—सन्ध्या क्यों करनी चाहिये ?

मनुष्य का जब किसी से सामना हो और वह आप न बच सकता हो, तो उसे वही बचा सकता है जो उस से और उस के शत्रु दोनों से बलवान् हो । दोनों में सन्धि करा दे, जिस से शान्ति हो जाय । वह वलवान् भी ऐसा हो, जो न्यायकारी हो और पक्ष-पात से रहित हो । उस की शरण लेने का नाम ही है सन्ध्या, पूजा भक्ति या उपासना है। परन्तु मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु है मृत्यु । अतः मृत्यु से बचने के लिये, मृत्यु पर विजय पाने और सच्ची शान्ति, स्थायी सुख और आनन्द प्राप्ति के लिये सन्ध्या की आवश्यकता है ।

अतः 'सम् उत्कृष्टतायै ध्यायते या सा सन्ध्या'

अर्थात् उत्कर्ष (उन्नति) के लिये जिसका ध्यान किया जाता है, वह सन्ध्या है ।

३—सन्ध्या किस की करनी चाहिये ?

जो प्रकृति और जीव को अपने वश में रखने वाला है, अपने ध्यान में रखने वाला है और जो कर्मों का फल देनेवाला है। इसलिये देखो:—

'सकारेण जीवः, मकारेण प्रकृतिः, जीवः प्रकृतिश्च ध्यायति रक्षायै चिन्तयति यं स सन्ध्यारूपः परमेश्वरः'

अर्थात्—'स' से जीव, 'म' से प्रकृति और 'ध्ययति' से ध्यान करना लिया गया है। एवं जीव और प्रकृति रक्षा के निमित जिस ईश्वर का ध्यान करते हैं वह सन्ध्यास्वरूप ईश्वर है।

४—किस से सन्ध्या करनी चाहिये अथवा कैसे करनी चाहिये ?

बुद्धि से, अर्थात् बुद्धि से आत्मा को जोड़ कर अथवा बुद्धि को सम करने के द्वारा सन्ध्या की जानी चाहिये।

'सम् संगतिः, कस्य संगतिः केन ?

बुद्धयाःसंगतिरात्मना, तया संगत्या ध्यायते या सा सन्ध्या'

अर्थात्—सम् नाम संगति का है और वह संगति बुद्धि की आत्मा के साथ ली जाती है, एवं उस संगति (बुद्धि और आत्मा के संयोग) से जिसका ध्यान किया जाता है वह संध्या है।

५—किस को करनी चाहिये ?

जो निर्बल और असमर्थ हो, जिसे शत्रु पर विजय पाने की आवश्यकता हो। वह कौन है ? जीव !

'सम् सन्तापः कस्य संतापः ? काम क्रोधादीनाम्।

तस्य संतापस्य दूरी करणाय ध्यायते इति या सा संध्या।

अर्थात्—'सम्' से सन्ताप गृहीत होता है और वह संताप काम, क्रोध,लोभादि का लिया जाता है। उस सन्ताप को दूर करने के लिये जिसका ध्यान किया जाता है वह सन्ध्या है।

६—सन्ध्या किस समय करनी चाहिये ?

जब सन्धि वेला हो। जब प्रकाश और तम का मेल होने वाला हो। अर्थात् रात और दिन के सन्धि वेला को प्रभात कहते हैं, एवं दिन और रात के सन्धि वेला को सायंकाल। या जब अपने प्राणों (सूर्य और चन्द्र स्वर) की सन्धि का समय हो अर्थात् जब प्राण सुषुमणा से चलता हो, उस समय सन्ध्या करने में चित्त-वृत्ति सम हो जाती है।

'सम् सन्धि वेलयां ध्यायते या सा सन्ध्या'।

अर्थात् 'सम्' से सन्धि ली जाती है एवं दिन-रात वा सूर्य-स्वर और चन्द्र स्वर की सन्धि के समय जिसका ध्यान किया जाता है वह सन्ध्या है।

तुम्हारा अब अन्तिम प्रश्न है:—

७—सन्ध्या कितनी देर तक करनी चाहिये ?

इसके दो उत्तर हैं। एक तो :—सम् संधि वेलायामेव ध्यायते या सा संध्या। अर्थात् जितना काल सन्धि का होता है। जैसे युगों की सन्धि मन्वन्तर में मुक्ति और प्रलय की सन्धि का समय १-१२ भाग होता है, वैसे ही २४ घंटे के दिन रात का बारहवां भाग एक घंटा प्रभात और एक घंटा सायं जैसा कि ऋषि दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि "प्रत्येक आर्य को सन्ध्या न्यून से न्यून एक घंटा सवेरे और एक घंटा सायं करनी चाहिये"।

दूसरे विशेष रूप से जितना अधिक समय भी अपनी भावना से कोई लगादे, उसे वर्जित नहीं। सन्धि नाम ही शान्ति का है, जब तक मन शान्त रहे, उखड़े नहीं। प्रभु शरण से बढ़कर दूसरी कौनसी अमृत भरी गोद हो सकती है? यह प्रश्न भी फिर तुम्हें न करना पड़े कि :—

८--सन्ध्या का आसन कैसा हो ?

लो, वह भी सुन लो !

सम् सम्यक् प्रकारेण शरीरसौकर्येण च ध्यायते या, सा संध्या अर्थात् शरीर, सिर, गरदन और छाति सम अथवा हमवार रहें। इन में से कोई भी अंग बहुत आगे को निकला हुआ अथवा पीछे को धंसा हुआ न हो। ऐसी स्थितियों में जिसका ध्यान किया जाता है वह सन्ध्या है।

नवयुवक के प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देकर मुनि जी ने बाबू जी ने से पूछा—आप कुछ पूछना चाहते हैं ?

बाबू जी ने देवी जी को संकेत करके कहा—"आप पूछें !"

देवी का प्रश्न

देवी—महाराज ! हमें अपनी तो कुछ समझ-बूझ नहीं, क्या प्रश्न करें ? सन्ध्या तो मैं भी करती हूँ और यह भी। परन्तु एक मंत्र के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा ही बोला जाता है। ध्यान कैसे और किस में टिके ? यह हम नहीं जानते। मैं तो जब छोटी सी थी, तब कन्या-पाठशाला में एक बूढ़े विद्वान् सनातनी पंडित हमें पढ़ाया करते थे।

मैं आर्य्य कुल कन्या हूँ, अतः वह कहा करते थे कि आर्यों का परमात्मा निराकार है, वे बेचारे ध्यान कैसे टिका सकते हैं? जब आँख उसे देख ही नहीं सकती, और उसे कभी किसी ने देखा भी नहीं; तो अन-देखी वस्तु पर ध्यान कैसे लगे? हम सनातनी लोग तो भगवान् की मूर्ति का ध्यान करते हैं। हमें कुछ सामने दिखाई तो देता है। इन आर्यों के सामने तो चौपट मैदान ही रहता है। उनका मन और ही कामों में भागता फिरता है। जिह्वा निस्संदेह मंत्र रटती रहती है। फिर वे हमें कहते हैं कि तुम मूर्तिपूजा करते हो, और हम कहते हैं कि तुम विषय-विकारों की पूजा करते हो,। कभी पुत्र का ध्यान आ गया! कभी स्त्री का! कभी दुकान का, कभी ग्राहक का, कभी किसी लड़ाई-झगड़े का, निराकार परमात्मा का ध्यान आता किसे है? सन्ध्या तो तब है, जब भली भांति परमात्मा का ध्यान किया जाय।"

उस समय तो मैं यह समझती थी कि यह केवल हमें चिड़ाने और गिराने के लिये ऐसा कह रहे हैं। अतः उनकी बातों की ओर कुछ ध्यान न देती थी, परन्तु अब जब से गृहस्थ में आई, और कुछ समझने-बूझने लगी, तो जान पड़ता है कि उन्होंने जो कुछ कहा था वह सचाई से सर्वथा ही खाली नहीं था। सन्ध्या समय सचमुच हमारा ध्यान नहीं लगता। दिल इधर उधर भागता फिरता है। प्रभु का ध्यान तो होता ही नहीं।

वनी—बेटी! बात तो सोलह आने ठीक है। आजकल तो

प्राय: सभी सन्ध्या करने वालों का यही हाल है। किन्तु यह दोष न तो सन्ध्या के मन्त्रों का ही है और न किसी आर्य्य नेता का ही, यह तो सबका अपना अपना ही दोष है। कारण, जिन साधनों से ध्यान टिक सकता है, वे साधन तो हम वरतते ही नहीं। मंत्र बेचारे इसमें क्या करें ? जब चलते ही हम उनके विपरीत हैं तो वे अपना प्रभाव कैसे दिखलावें ?

देवी—फिर तो उन ब्राह्मण देवता की ही बात सिद्ध हो गई कि मूर्ति द्वारा ही पूजा करनी अच्छी है।

सन्ध्या का साधन

वनी—जल्दी न करो। बेटी ! पहले मैं नियम की एक बात बतला दूँ। फिर जैसा अच्छा लगे, वैसा करना। प्रत्येक दो पदार्थों को मिलाने के लिये एक तीसरे पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है। अपने आप कोई दो पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। देखो ! यह मकान बना हुआ है ईंटों से, एक ईंट पर दूसरी ईंट धरी गई है। परन्तु इनके मिलाने के लिये एक तीसरी चीज अर्थात् गारा उनके बीच में रक्खा गया है, तब यह मकान बना है। अब हम चाहते हैं कि पत्थरों का मकान बनावें और एक पत्थर के ऊपर दूसरा पत्थर रखते हैं। यदि उनमें हम गारा लगा दें तो वह कभी न जुड़ेंगे, अत: वहाँ हम सीमेंट अथवा चूना लगाते हैं। तब पत्थर पर रक्खा हुआ पत्थर जुड़ जाता है।

अब यह मेरा कपड़ा देखो ! इसे सिलाया गया है। दर्जी ने एक टुकड़े को दूसरे के साथ जोड़ा है। यदि वह इसमें गारा या सीमेंट लगाता, तो क्या बन जाता ? नहीं। फिर इसमें उसने क्या किया ? सूई में धागा डालकर उस धागे को उसने दोनों के

बीच में पिन लगा कर, उन्हें सी कर जोड़ दिया। अब एक और उदाहरण लो। तुम्हारा कोई आभूषण टूट गया। उसके टुकड़ों को जोड़ने के लिये सुनार यदि तागा, गारा या सीमेंट बरते तो क्या वे जुड़ जायेंगे? नहीं, कदापि नहीं। अतः वह उनमें धातु का टाँका लगाता है, और वह आभूषण जुड़ जाता है।

इसीलिये यह एक नियम है कि दो पदार्थों के बीच में तीसरी चीज वह लगानी चाहिये जो उन दोनों का सम्मिलित अंश हो। ईंट गारे से बनी थीं; इसलिये उन्हें गारे ने जोड़ दिया। चूना और सीमेंट पत्थर का अंग है। कपड़ों का अंश है सूत का तार और आभूषण धातु का बना हुआ है, इसीलिये धातु की आवश्यकता पड़ी।"

चित्त या ज्ञान

अच्छा! अब हम आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना चाहते हैं अतः उन्हें जोड़ने वाली तीसरी चीज कोई ऐसी होनी चाहिये, जो दोनों में सम्मिलित हो। जीवात्मा सत्, और चित्, है। परमात्मा सत्, चित् आनन्द और प्रकृति केवल सत्। जीवात्मा तथा परमात्मा में सम्मिलित चीज है 'चित्'।

'चित्त' नाम है ज्ञान का, इसीलिये शास्त्रकारों ने यह बतलाया है कि—

'न ऋते ज्ञानेन मुक्तिः'

अर्थात् 'ज्ञान बिना मुक्ति नहीं'। अथवा ज्ञान बिना प्रभु के दर्शन और मिलाप नहीं हो सकते। अब तुम ही बताओ कि ज्ञान

निराकार है या सरकार ? ज्ञान का कोई भी रूप नहीं, वह निराकार है, आत्मा भी निराकार है और परमात्मा भी निराकार। अतः निराकार को निराकार से जोड़ने के लिये, बीच की चीज साकार कैसे हो सकती है ?

सत्य

बाबू—महाराज ! प्रकृति भी सत् है, जीव भी सत् है और परमात्मा भी सत् है, तो प्रकृति द्वारा जीव परमात्मा को क्यों नहीं पा सकता ?

बनी—देखो ! जैसे मनुष्य ज्ञान को धारण करने और ज्ञानानुसार चलने से परमात्मा को पा जाता है, वैसे प्रकृति द्वारा नहीं पा सकता। कारण, प्रकृति में जो सत् है वह 'सत् निरंतर' (सत्-विल-जात)। वह सत् केवल प्रकृति की सम अवस्था अर्थात् उस के कारण रूप में ही होता है। तब वह न तो दिखाई ही देती है और न बांटी ही जा सकती है। वास्तव में उसी अवस्था में उसे 'प्रकृति' कहते हैं। वृक्ष, पहाड़, मूर्ति आदि 'प्रकृति' नहीं कहलाते यह सब पदार्थ मूर्तिमान् प्रकृति की विकृति अर्थात् बदली या बिगड़ी हुई सूरतें हैं। उसका यथार्थ रूप नहीं। फिर जो पदार्थ विकारी (अदलने बदलने वाला) हो, उससे सत्य ज्ञान कैसे हो सकता है ? देखो ! जिह्वा सब स्वादों को चखती है। किन्तु जब उसमें विकार पैदा हो जाय तो उसे मीठी चीज भी कड़वी जान पड़ती है। आंख सब रूपों को देखती हैं, परन्तु जब उसमें पीलिया रोग (यर्कान) हो जाय तो श्वेत वस्तु भी पीली ही दिखाई देती है। इस प्रकार ज्ञान नहीं वरन् अज्ञान ही जीव तथा प्रकृति का सम्मिलित गुण हो जाता है

प्रकृति की सहायता से यदि कोई ब्रह्म को देखना भी चाहे, तो देख सकता है परन्तु तब, जब वह अवस्था नितान्त प्रकृति के समान जड़ बनाले। सर्वथा प्रभु के आधीन हो जाय। उसी के संकेत और प्रेरणा पर अपनी गति प्रगति रखे।

दूसरी बात यह समझो कि गारे में मिट्टी और जल दोनों मिले थे, नहीं तो यदि हम दो ईंटों में केवल मिट्टी रखदें तो भी वे न जुड़ेंगी। यदि केवल जल ही रखदें तो भी उन का मिलाप नहीं हो सकता। कारण, वह दोनों ईंटें भी तो मिट्टी और जल मिला कर बनाये हुए गारे से ही बनाई गई हैं। ऐसी ही सत् प्रकृति से यह शरीर बना है, अतः शरीर द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर के आत्मा परमात्मा के दर्शन कर सकता है, और किसी प्रकार साधन नहीं। इस लिये चित् और सत् दोनों मिलकर ही प्रभु के मिलाप का साधन बन सकते हैं।

संध्या तथा ज्ञान

देवी—महाराज! अब यह तो समझ आ गई कि मूर्ति आदि का साधन व्यर्थ है, किन्तु ध्यान जो नहीं टिकता?

देवी यह बातें कर ही रही थी कि इतने में वह कल वाले शेष युवक भी आ पहुंचे और प्रणाम करके बैठ गये, जिससे सब का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया और कुछ समय के लिये सन्नाटा छा गया। जब कोई न बोला तो वह अपनी भाषा में प्रार्थना करने वाला (कल वाला) युवक बोला—"महाराज! कल आपने यह कहा था कि प्रत्येक शब्द में शब्द करने वाले का आकार रहता है यह तो ठीक समझ में आ गया, किंतु जिस बालक ने आवाज़

सुनकर यह कह दिया था कि पिताजी आगये, और उसके पिता का आकार भी उसके मस्तिष्क में आगया था, उसने तो अपने पिता को देखा हुआ था, इस लिये वह पहचान गया, परन्तु जो व्यक्ति किसी को पहले न जानता हो, वह किसी को उसकी आवाज़ से कैसे पहचानेगा ? हम भी तो प्रभु को नहीं जानते, कभी पहले उसे देखा भी नहीं, फिर इन शब्दों से हमें प्रभु का ज्ञान कैसे होगा ?

वनी—पुत्र ने पिता को जाना हुआ था यह ठीक है, परन्तु कैसे ?

युवक—अपनी आँखों से देखा था और बुद्धि से समझा था।

वनी—यह दोनों कारण (साधन) क्या हैं ?

युवक—ज्ञान इन्द्रियां

वनी—तो मानो ज्ञान प्राप्त करने का साधन ज्ञान इन्द्रियाँ हैं। ज्ञान ही से किसी की पहचान हो सकती है, अतः मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ?

युवक—फिर सन्ध्या की क्या आवश्यकता पड़ गई, जब ज्ञान से ही प्रभु को जाना जाता है ?

वनी—आवश्यकता पड़े तो करो, न पड़े तो न करो। तुम ज्ञान से ही प्रभु को प्राप्त कर सकते हो।

युवक—फिर उसे ढूँडने कहां जायें, वह तो सर्व-व्यापक कहा जाता है।

वनी—प्रभु को जानने वा ढूँडने की आवश्यकता

नहीं, केवल अपने अन्तः करण को शुद्ध करने की आवश्यकता है। आत्मा के लिये परमात्मा का दर्शन तो केवल एक पारितोषिक (इनाम) मात्र है, उन समस्त प्रयत्नों का—जो उसे स्वयमेव मिल जाता है। जैसे मैले वस्त्र में उसकी सुफेदी छिपी हुई है। वस्त्र की मैल निकाल दो, सुफेदी अपने आप दर्शन दे जायगी, उसे ढूंडने या कहीं से लाने की कोई आवश्यकता नहीं। या जैसे एक विद्यार्थी का कर्तव्य प्रयत्न करना है और परीक्षा देना है, पास (उत्तीर्ण) होने और सब से अच्छे नम्बर पाने पर सार्टिफिकेट डिग्री (प्रमाण पत्र अथवा उपाधि) या पारितोषिक तो उसे अपने आप ही मिल जाता है। ऐसे ही मनुष्य का काम केवल अन्तः करण की शुद्धि के लिये प्रयत्न करना ही है, जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, तो आत्मा और परमात्मा के दर्शन अपने आप ही हो जाते हैं।

शुद्धि

युवक—अन्तः करण कैसे शुद्ध हो ?

वनी—शुभ कर्मों से।

युवक—फिर भी सन्ध्या की आवश्यकता न रही।

वनी—घबराओ नहीं। यह आवश्यकता भी सिद्ध हो जायगी।

अच्छा ! यह बतलाओ (दीवार की ओर संकेत करके) यहाँ आप अपना मुखड़ा देख सकते हैं ?

युवक—नहीं ! किन्तु दर्पण (शीशे) में देख सकता हूँ।

वनी—यदि दर्पण मैला हो तो ?

युवक—तब भी नहीं देख सकूंगा। दर्पण की मैल उतार कर ही देख सकूंगा।

वनी—यदि दर्पण तो साफ़ हो, मगर हिलता जुलता हो तो ?

युवक—तब भी नहीं देख सकूंगा।

शांति एकाग्रता, प्रेम और पवित्रता

वनी—अन्तःकरण के पाप तो शुभ कर्मों से धुल जायेंगे, किन्तु मन का स्वभाव है चंचल, हिलना डोलना। उसे शांत करने की भी बड़ी आवश्यकता है। यह तो शांत होगा प्रभु-भक्ति से। इस के सिवाय और कोई साधन नहीं। जैसे शीशा यदि साफ़ भी हो और एक स्थान पर स्थिर भी, किन्तु टुकड़े-टुकड़े हो रहा हो, तो आप को उस में एक नहीं, किन्तु अनेक शकलें दिखाई देंगी, अतः उसे टुकड़ों से रहित करने की भी आवश्यकता है। इसी का नाम है 'प्रेम'। अन्तःकरण शुद्ध होगा शुभ कर्मों से, शान्त होगा एकाग्रता से और एकाग्रता होगी प्रेम से, किन्तु प्रेम *पवित्रता के बिना* नहीं रह सकता और पवित्रता बिना ज्ञान, सत्य ज्ञान तथा शुद्ध ज्ञान के स्थिर नहीं रह सकती। अतः *अब आवश्यकता पड़ गई सन्ध्या की भी*।

योग तथा सन्ध्या

युवक—परन्तु मैंने तो यह सुना है कि चित्त की चंचलता योग के बिना दूर नहीं हो सकती ? योग सूत्र में भी यह आया है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

अर्थात् चित्त-वृत्तियों के निरोध को "योग" कहते हैं किन्तु आप कहते हैं कि इसके लिये सन्ध्या की आवश्यकता है।

वनी—क्यों ! तुम योग को कुछ और समझते हो ? तनिक बताओ तो सही ! तुमने योग को क्या समझ रक्खा है ?

युवक—मैं तो योग को यह समझा हूँ कि जो लोग समाधि लगाते हैं, वह ईश्वर का साक्षात् करते हैं। वही योगी हैं और समाधि लगाना ही योग है।

वनी—किन्तु तुम यह भी जानते होगे, कि समाधि योग का कौनसा अंग (मंज़िल) है और इससे पहले कितने अंग हैं ? यदि इस समाधि को तुम्हारी एम० ए० की श्रेणी ही समझ लिया जाय, तो शेष श्रेणियां कौनसी होंगी ? तुम्हारे एक विद्यार्थी होने के कारण ही मैंने यह कहा है।

युवक—कुछ उत्तर न दे सका तो भीमसेन बोला—महाराज ! समाधि अन्तिम तथा आठवीं श्रेणी है। इससे पहले ध्यान (७–बी० ए०), धारणा (६–एफ० ए०), प्रत्याहार (५–मैट्रिक), प्राणायाम (४–मिडल), आसान (३), नियम (२) और यम (१)–प्राइमरी की श्रेणियां हैं।

वनी–शाबाश ! अच्छा, तो बेटा ! अब देखो। समाधि यदि एम० ए० है तो पहले पहल ही तो कोई मनुष्य एम० ए० में नहीं जा पहुंचेगा। सबसे प्रथम तो वह प्राइमरी में ही बैठेगा और जो प्राइमरी में पढ़ेगा, वही एम० ए० तक पहुंच सकेगा। गणित

(हिसाब) में अंक (हिन्दसे) लिखना, पहाड़े, जोड़ना, घटाना, गुणना और बांटना यह सब प्राइमरी में ही तो सिखाये जाते हैं, फिर यही एम० ए० तक की गणित में काम आते हैं। निस्सन्देह श्रेणी ऊँची हो जाती है, परन्तु इन आरम्भिक नियमों (तरीकों) के बिना तो वहां भी काम नहीं चलता। अतः *सन्ध्या भी योग में प्रविष्ट होने का केवल एक द्वार मात्र है* और उसके लिये एक प्रकार की तैयारी हैं।

भीमसेन—(चकित होकर) तो क्या इस सन्ध्या में यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि भी आ जाते हैं? प्राणायाम तो इसमें स्पष्ट ही है।

वनी—हाँ! उदाहरण (नमूने) रूप से यह सभी अंग इसमें आ जाते हैं और उनका नियमित अभ्यास करते रहने से मनुष्य ऊँचा ही ऊँचा चढ़ता जाता है।

भीमसेन—कृपा करके इस रहस्य को तनिक खोलकर समझा दीजिये।

वनी—भला यम नियम कितने हैं? यह भी जानते हो?

भीमसेन—हाँ महाराज १—अहिंसा, २—सत्य, ३—अस्तेय, ४—ब्रह्मचर्य, ५–अपरिग्रह, ये पांच तो यम हैं। और १–शौच, २–सन्तोष, ३–तप, ४–स्वाध्याय, ५–ईश्वर प्रणिधान, ये पाँचों नियम।

वनी—अब यह बताइये कि जितने पुण्य तथा पाप हैं और होते हैं, वह किन इन्द्रियों से होते हैं?

भीमसेन—ये पुण्य पाप ५ ज्ञान इन्द्रियों या ५ कर्म इन्द्रियों से होते हैं।

वनी—जितने पुण्य संसार में होते हैं वे सब इन यम नियम में आ जाते हैं या नहीं ?

भीमसेन—सभी आ जाते हैं, महाराज !

वनी—अब यह बतलाओ कि हिंसा किस किस इन्द्रिय से होती है ?

भीमसेन—हाथ, पैर, जिह्वा और मन से।

वनी—तो हिंसा के बचने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

भीमसेन—इन इन्द्रियों अर्थात् हाथ, पैर, जिह्वा और मन से पाप न करें।

वनी—तो फिर हमें क्या करना चाहिए ?

भीमसेन—यह व्रत लेना चाहिये कि हम पाप न करेंगे।

वनी—व्रत की रक्षा कैसे होगी* ?

भीमसेन—तप से।

---

*यम के साधन—नियम

व्रत रक्षा

पांच व्रत—(यम)	अहिंसा	सत्य	अस्तेय	ब्रह्मचर्य	अपरिग्रह
साधन—(नियम)—	१-तप २-शौच	१-तप २-स्वाध्याय	१-सन्तोष २-ईश्वर प्रणिधान	१-तप २-स्वाध्याय ३-सन्तोष ४-शौच	१-ईश्वर प्रणिधान

वनी—अब बोलो ! झूठ किन इन्द्रियों से बोला जाता है ?

भीमसेन—जिह्वा तथा मन से ।

वनी—और सत्य किन इन्द्रयों से बोला जाता है ?

भीमसेन—यह भी जिह्वा और मन से ।

वनी—इसके लिये कौनसा साधन चाहिये ?

भीमसेन—महाराज ! यह तो मैं जानता नहीं ।

वनी—तप तथा स्वाध्याय इसके साधन हैं । अच्छा ! चोरी किससे की जाती है ?

भीमसेन—हाथों से, आँखों से और मन से ।

वनी—कौनसा साधन करना चाहिये, जिससे चोरी करने की आवश्यकता ही न पड़े ?

भीमसेन—महाराज ! चोरी सदैव लोभ वश होती है । सन्तोष हो, तो मनुष्य लोभ से बचा रहता है ।

वनी—ठीक ! बिलकुल ठीक !! अच्छा । ब्रह्मचर्य की गिरावट किस इन्द्रिय से होती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भीमसेन को कुछ झिझकते हुए देखकर वनी जी बोले—सब इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि से ब्रह्मचर्य की गिरावट होती है और इसके साधन हैं—तप, स्वाध्याय, सन्तोष और शौच । अब शेष रह गया, अपरिग्रह । इसका साधन है—ईश्वर प्रणिधान । अपितु यों समझो कि *ईश्वर प्रणिधान ही सदाचार की कुंजी है ।* ईश्वर में थोड़ा सा भी विश्वास कम हुआ और गिरावट आरम्भ हुई ।

ईश्वर का पूर्ण विश्वासी कभी कोई पाप नहीं कर पाता

और इस पूर्ण विश्वास से ही भक्त की समाधि टिक जाती है।

भीमसेन—(गद्-गद् प्रसन्न होकर) यह तो मैं समझ गया, महाराज !

वनी—(मुस्कराते हुए) जलदी न करो, बच्चा ! अभी समझ कच्ची है। तनिक सब मिल कर सन्ध्या का दूसरा मन्त्र उच्चारण करो।

सब के सब उच्चारण करने लगे—

ॐ वाक् वाक् ॐ प्राणः प्राणः ॐ चक्षुः चक्षुः ॐ श्रोत्रं श्रोत्रं ॐ नाभिः ॐ हृदयं ॐ कंठः ॐ शिरः ॐ बाहुभ्यां यशोबलम ॐ करतलकरपृष्ठे ।

वनी—देखो ! इस मन्त्र में सभी पाप और पुण्य करने वाली इन्द्रियां आ गई हैं वा नहीं ?

कई सज्जन—हां महाराज ! इस मंत्र के अर्थ तो हम सभी जानते हैं। इसमें इन्द्रियों की पवित्रता के लिये यश और बल की भगवान् से प्रार्थना की गई है, जिससे इन इन्द्रियों में से कोई भी कभी कोई पाप न कर सके।

वही युवक—महाराज ! इसमें तो यश और बल की प्रार्थना है, न कि पवित्रता और पाप न करने की ?

वनी–बेटा ! यहां भी तुम भूलकर रहे हो। इससे आगे ही जल और अंग स्पर्श का मन्त्र है। जल ही यद्यपि पवित्र करता है, शुद्ध करता है और शान्त करता है, परन्तु यथार्थ में प्रार्थना यश और

बल के लिये है। अब तुम स्वयमेव बतलाओ कि यश कहां से मिलता है और बल कहां से ?

युवक—यश तो लोग करते हैं और बल अपने अन्दर से आता है।

वर्णी—परन्तु लोग तुम्हारा यश कब करेंगे और तुम्हारा बल अन्दर से कैसे बढ़ेगा ?

युवक—जब मैं लोगों की कुछ सेवा करूँगा, अच्छे शुभ कार्य करूँगा तो लोग स्वयमेव मेरा यश गायेंगे और बल बढ़ेगा ब्रह्मचय से !

वर्णी—परन्तु ब्रह्मचर्य निभेगा मन जीतने से।

मन कैसे जीता जा सकता है ?

युवक—(कुछ सोच में पड़कर) महाराज ! मन कैसे जीता जा सकता है ?

वर्णी—आगे सन्ध्या में *प्राणायाम* का मन्त्र तो है ही।

प्राणायाम किया जाता है '*आसन*' लगाकर और शरीर को सम अवस्था में रख कर। अतः सन्ध्या के अर्थ में यह भली प्रकार समझा दिया गया है कि प्राणायाम का फल है '*प्रत्याहार*' अर्थात् विषयों से मन को हटाना, या मन पर विजय पाना अघ-मर्षण मन्त्र पर जब प्रतिदिन दो बार विचार किया जाता है, तो धीरे-धीरे अनागत पापों की प्रवृत्ति का दमन होता जाता है। कारण, इन मन्त्रों में सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन द्वारा सब पापों की जड़ अर्थात अभिमान तथा अहंकार पर प्रहार किया जाता है,

जिससे मन स्वयम् संभला रहता है और अन्ततः पूर्णतया वश में आकर पराजित हो जाता है।

इसके पीछे हैं 'मनसा परिक्रमा' के छः मन्त्र। उनके द्वारा मन से जगत्-पिता प्रभु परमात्मा की परिक्रमा करानी है। एक-एक दिशा का ध्यान करके मन्त्र पर विचार करने से, मन एक देशीय विचार में प्रभु के चरणों में लग जाता है और यही धारणा कहलाती है।

'उपस्थान' के मन्त्रों पर ध्यान करने से प्रभु की अद्भुत लीला अनुभव करके मन उसके *ध्यान* में मग्न हो जाता है और ध्यान की ही परिपक्व (पूरी पक्की) अवस्था का नाम ही समाधि है, जिसमें गायत्री मन्त्र द्वारा मनुष्य अपने आप को प्रभु अर्पण कर देता है। परन्तु यह सब उदाहरण-रूप से आरम्भिक पाठ मात्र है। इन्हें बढ़ाते रहने से यही अन्तिम पाठ बन जाते हैं और इनसे ही उपासना समाधि की अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जाती है, जहाँ फिर सिवाय *ओ३म्* के और कुछ जाप नहीं रहता। समाधि में मनुष्य अपने आप को भूलकर मस्त हो जाता है और अपने आप को प्रभु में लीन कर देता है तथा अपने को प्रभु-अर्पण करके अपने मन को भूल जाता है।

भीमसेन—सन्ध्या से मन पवित्र होता है या पवित्र मन से सन्ध्या होती है?

वनी—बेटा! प्रेम भाव से भली प्रकार प्रभु में ध्यान लगाने और शुभ कर्मों का चिन्तन करने और सबसे बढ़ कर मन्त्रों के

अर्थ और भाव को अपने जीवन में धारण करने से मन पवित्र होता है। नित्य इसी प्रकार सन्ध्या करने वाले मनुष्य के मन में जब कभी किसी पाप का विचार उठता है तो उसे *प्रभु* का भय आ जाता है और उसने अपने मन के उसी भाव द्वारा मन्त्रों की सहायता से बार बार परमात्मा से जो प्रार्थना की होती है, वही भाव और शब्द स्वयं उसके कानों में गूँजकर, उसे उस पाप भरे विचार से लज्जा दिलाने लगते हैं। इस प्रकार सन्ध्या से उसका मन पवित्र होता जाता है। जब मन पवित्र हो गया तो वह प्रभु के चरणों में भी ऐसा टिक जाता है, जैसे किसी स्वच्छ बरतन में निर्मल जल [बरतन भी जल से ही स्वच्छ (साफ़) होता है] यह दोनों कार्य कारण (लाज़िम मलज़ोम) हैं।

यह बात सदैव याद रक्खो कि मन को सिवाय शुद्ध विचार तथा सत्य ज्ञान के और कोई भी चीज़ पवित्र नहीं कर सकती। सत्य ज्ञान की प्राप्ति सत्-संग और स्वाध्याय से होती है और शुद्ध विचार भले कर्मों के चिन्तन से ही प्राप्त होते और बढ़ते हैं अतः सत्-संग में वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना भी *ब्रह्म-यज्ञ* ही कहा गया है। इसी से मन पवित्र बनता है। जैसे कोई पूछे कि शरीर आत्मा के सहारे है या आत्मा शरीर के सहारे ठहरा हुआ है ? तो उत्तर यही देना पड़ेगा कि यह दोनों ही एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। ऐसे ही सन्ध्या से मन पवित्र होता है और पवित्र मन से ही सन्ध्या होती है।

देवी—महाराज! मन की चंचलता का बड़ा कारण क्या

है ? इसका नाश कैसे किया जाय ?

राग द्वेष

वनी—मन की चंचलता के सबसे बड़े और प्रबल कारण हैं राग और द्वेष। यही मन की पवित्रता का नाश करके उसे अपवित्र बनाते रहते हैं। इसी लिये सन्ध्या में इन्द्रियों की पवित्रता के लिये पहले और दूसरे मन्त्रों में और फिर 'प्राणायाम' भी इस लिये है और 'अघमर्षण'भी, कि जिससे पापों का क्षय हो। मनसा परिक्रमा के लगातार छः मन्त्र भी आपस का द्वेष नाश करने और प्रेम बढ़ाने के लिये हैं। जब द्वेष ही मिट गया तो प्रेम अपने आप ही पैदा होता जावेगा और उससे मन में पवित्रता आती जायगी।

सारांश यों समझो कि राग दूर होता है वैराग्य से, द्वेष दूर होगा अभ्यास से और वैराग्य आता है पवित्रता से। किन्तु यह भी याद रक्खो कि वैराग्य का अर्थ घर बार या राग का त्याग नहीं, वरन् ईश्वर तथा प्रकृति में यह ज्ञान (तमीज़) करना है, कि ईश्वर प्रकृति से उत्तम है। अतः जो उत्तम है, उससे ही अनुराग प्रेम होना चाहिये और जो घटिया (कमतर) है, उससे वैराग्य। इस प्रकार सारा संसारी राग दूर होकर, सब अपने जैसा ही समझने का भाव पैदा होगा और उसका बार-बार अभ्यास करने से द्वेष स्वयमेव दूर हो जायगा।

सन्ध्या समय नियत होने की आवश्यकता

बाबू—महाराज ! यह तो ज्ञात हो गया कि सन्ध्या करनी आवश्यक है और प्रेम-पूर्वक प्रभु के चरणों में ध्यान लगाना

चाहिये, परन्तु क्या यह भी आवश्यक है कि ठीक सन्धि वेला में ही सन्ध्या की जाय और वस्त्रादि उतार कर पूजा के ही कपड़े पहन कर की जाय ? या हम जैसे नौकर आदमी जो समय भी मिल जाय और जिन वस्त्रों में सुगमता हो वैसे ही करलें ? इसमें कोई हर्ज तो नहीं ?

वनी—भाई ! यह सब आडम्बर (बहाने) अपनी दुर्बलता को छुपाने और बल देने के लिये हैं। जिस का अन्तःकरण पवित्र हो गया और जिसे प्रभुचरणों में ऐसी प्रीति है जैसी कि मछली को जल से अर्थात् वह जल बिना एक क्षण भर भी नहीं जी सकती, या जैसे कि नन्हे बालक को अपनी माता से होती है जो माता बिना एक मिन्ट में ही व्याकुल होकर चिल्लाने लगता है। ऐसे बच्चे सदा माता की गोद में रहते हुए उसकी छाती से लिपटे, दूध रूपी अमृत रस पान करते ही रहते हैं, चाहे वह मल-मूत्र से लथ-पथ ही क्यों न हो जायें।

परन्तु इस दिखावटी आडम्बर का आशय तो केवल यह होता है कि एक दुर्बल मनुष्य उसके सहारे अपने इर्द-गिर्द के वायुमण्डल को शुद्ध और और अपने अनुकूल बनाले; जिससे कोई उस पर उँगली न उठा सके। किन्तु जिसने बरसाती (मोमजामे) का कोट पहन लिया, उसे भीगने का क्या भय हो सकता है। अन्यथा छाता आदि तो संभालना ही पड़ेगा।

सब राग अपने-अपने समय पर ही सुहावने लगते हैं और अपने साथ दूसरों पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। हमारी जाति इस समय अवस्था भेद (हालात) की ओर कुछ ध्यान न देकर अपनी सारी संगठन शक्ति खो के सर्वथा नष्ट हो गई है और इस को अपनी मन-मानी ने उसके मन से ईश्वर और अपने पूर्वजों की आज्ञा का विश्वास तक मिटा दिया है।

यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि सन्धि समय प्रकाश और तम का मेल होता है और 'सन्धि' का अर्थ ही शान्ति तथा सुलह (Peace) के हैं। उस समय प्रभु की दिव्य शक्तियों द्वारा सारा आकाश ऐसी लहरें उत्पन्न करता है और सूर्य मंडल भी समय-समय के भेद से ऐसी तरंगें, हवाएं और गैसें पैदा करता रहता है, जो मनुष्य के शरीर और मन पर नाना प्रकार का प्रभाव डालती रहती हैं। देखो! कुछ ही दिन पहले शीत के कारण बाहर जाने को जी नहीं चाहता था, परन्तु वसन्त ऋतु आई। उसने गुप्त रूप से हमारे मन पर ऐसा प्रभाव डाला कि अब कोई भी अन्दर बैठना नहीं चाहता।

प्रातः काल का वेला, जो ब्रह्ममुहूर्त, वड्डा वेला, प्रभात या उषा के नाम से प्रसिद्ध है, उस समय को 'प्रभात' इसी लिये कहते हैं कि 'प्रभा' नाम 'बुद्धि' का है। उस समय ओषजन (उज़ून = Ozone प्राणप्रद वायु) चलती है, जो शरीर के रोगों को नाश करती है और बुद्धि को तेज देती है। अन्तःकरण के चंचलपन को दूर करके शान्त करती है। उस समय पक्षियों के पंखों की फड़फाड़हट, जब कि वह अपने-अपने घोंसलों से निकल कर उड़ते हैं, विशेष रूप से, अन्य समयों से अधिक होती है और वह गन्दी वायु को भी शुद्ध करती है। उस समय संसार में सत-युग सा होता है 'ब्रह्म मुहूर्त' का नाम ही बड़ा महत्त्व पूर्ण है। उस 'ब्रह्म मुहूर्त' में योगी जन अपनी-अपनी कंदराओं में और नदियों के तटों पर समाधिस्थ होते हैं। प्रभु के तेजस्वी आशीर्वाद की धारा उन्हीं के लिये बरसती है। वह भी अपनी विचार धारायें (Current of thoughte) संसार के सुख और शान्ति के लिये भेजते रहते हैं, और ही परमाणु उस समय

भक्ति करने वालों को भी प्राप्त होते हैं। अतः उपासना सन्ध्या समय पर करनी ही बड़ी लाभदायक है।

अब रही वस्त्रों की बात। वस्त्रों का भी बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। तनिक यह तो बतलाइये कि आप मेरे पास अपने दफ्तरी वस्त्रों में आये हैं या भक्तों के भेस में? और इसका कारण क्या है?

बाबू—भक्तों के भेस में, महाराज! उन वस्त्रों में आप के पास आते हुए लज्जा भी आती थी और यह भी विचार हुआ कि साहिब बन कर जाना ठीक नहीं। बूट के साथ जुराब भी आवश्यक है बूट हाथ से उतारना पड़ेगा। फिर हाथ धोने जाना होगा। जुराबें मिट्टी में खराब हो जायंगी। पतलून से बैठने में पूरा-पूरा आराम भी नहीं मिलेगा। यदि महाराज ने कोई आसन बतलाना चाहा या और कोई शिक्षा देनी चाही तो वह क्रिया भी पूरी-पूरी न हो सकेगी।

वनी—बस! फिर मेरा उत्तर तो आप ने स्वयम् ही दे दिया। वस्त्रों में मनुष्य के शारीरिक रोगों के परमाणु भी घुस जाते हैं और मानसिक सुविचारों और कुविचारों के भी। फिर एक गृहस्थी और व्यवहारिक मनुष्य के वस्त्र तो कभी पूरे-पूरे सात्विक विचार के रह ही नहीं सकते। अतः सात्विक कार्य के लिये सात्विक वस्त्र की ही आवश्यकता है। इसके सिवा और कोई विशेष बात नहीं। शेष रहा यह कि आप नौकर हैं। आप को पराधीनता है। है तो यह सत्य, किन्तु केवल हिन्दुओं के लिये ही। मुसलमानों के लिये नहीं। वह तो अपने धर्म के पक्के हैं। अस्तु...परमात्म देव उनकी यह शक्ति तो उनमें स्थिर रक्खें

और हमें भी अपने धर्म पर ऐसा ही दृढ़ विश्वास रखने क बल दें ?

इस पराधीनता का उपाय यह है कि ठीक उस समय जब आपको कपड़े उतारने और हाथ मुंह धोने का भी अवकाश न मिल सके, तो अपने हृदय की शुद्ध भावना से पूर्ण प्रेम तथा श्रद्धा के साथ गायत्री मन्त्र को पूरे मन से उच्चारते और उस पर अर्थ विचार करते हुए अपने सिर को झुका दो। यदि अर्थ विचार का अवकाश न भी हो, तो फिर भी ऐसी क्षणिक भक्ति, यदि सच्ची प्रीति और हार्दिक श्रद्धा से की जायगी, तो भी बड़ा लाभ देगी। फिर जब नौकरी से छूटो, तो सब से पहले यही काम करो। इस प्रकार वह प्रायश्चित्त रूप में हो जायगा। अभिप्राय तो बेटा! अपनी भलाई से है, किसी दूसरे पर आभार या उस पर उपकार तो नहीं। जितना भी पवित्र भाव से इसे कर सकोगे, उतनी ही शीघ्र उन्नति कर सकोगे॥

सन्ध्या की आरम्भिक क्रियाएँ आवश्यक हैं

भजन भोजन पर भी बहुत कुछ निर्भर है, अतः भोजन को भी ठीक भजन के ही समान समझना चाहिये। अभी महाराज भोजन के सम्बन्ध में कह ही रहे थे कि एक युवक बड़े उतावलेपन (जल्द बाज़ी) से बीच में बोल उठा—महाराज! सन्ध्या में जो क्रियाएं की जाती हैं, जैसे चोटी में गांठ लगाना, आचमन करना, अंग स्पर्श, मार्जन आसनादि यह सभी आवश्यक हैं अथवा अपनी इच्छा पर निर्भर हैं। क्या इनका भी कुछ आध्यात्मिक अथवा शारीरिक लाभ है, या यह केवल चिह्न मात्र (मज़हबी निशान) ही हैं।

वनी—पुत्र ! आर्य जाति के पूर्वज बड़े- आत्म-ज्ञानी और तत्ववेत्ता दार्शनिक (फ़िलासफर) थे। उन्होंने योगविद्या के बल से साधारण-से-साधारण भी जो साधन मनुष्य जीवन के लिये उपयोगी देखे, उन्हें ही धर्म अथवा पुण्य का नाम दे दिया और जिसे भी जीवन में अवनति (गिरावट) का कारण समझा, उसे ही पाप ठहरा दिया। "पाप" का अर्थ है गिराने वाला 'पतित करने वाला' अर्थात् जिस से किसी प्रकार की भी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक अथवा आर्थिक हानि हो, वही पाप है। इसी प्रकार "धर्म" का अर्थ है 'रक्षा करना।' जिस कर्म से शारीरिक, मानसिक, या सामाजिक उन्नति हो, वही धर्म है।

अन्तर्दृष्टि की शक्ति प्राप्त करना ही सन्ध्या-साधक का पहला कर्तव्य है, अर्थात् मन की समस्त शक्तियां एकत्रित करके उसके अन्दर यह देखना कि क्या हो रहा है, और क्या नहीं हो रहा ? इसी परोक्ष (गुप्त) अवस्था को उसे अपनाना पड़ता है। इन क्रियाओं का दार्शनिक तत्त्व (फ़िलासफी) वर्णन करने से पहले मैं आप लोगों को यह एक घरेलु उदाहरण से भी समझादूं तो शायद आपके दिल को लग जाय। देखो! मनुष्य के शरीर के लिये भोजन और आत्मा के लिये भजन शांति देने वाले हैं अतः ये दोनों ही हमारे लिये परमावश्यक हैं। जैसे मनुष्य का भोजन रसोई घर में बनता है और वहाँ ही खाकर मनुष्य उस का रस लेता है, परंतु भोजन बनाने से पहले माताएँ नित्य प्रति रसोई घर में झाड़ लगाती हैं और फिर लीपा पोती करके भूमि तल

शुद्ध करती है (२) जिन बरतनों में भोजन बनाना होता है, उन्हें मांजती और शुद्ध करती हैं। (३) फिर उन बरतनों को भी शुद्ध करती हैं, जिन में परोस कर भोजन खिलाना होता है। यह शुद्धि हो जाने पर (४) वह आटा गूँधती हैं और उसे बार-बार रलाती हैं जिस से वह आटा एक तार हो जाय। (५) फिर उसे तवे पर पकाती और सेंकती हैं, तो कहीं वह खाया जाता है और आनन्ददायक होता है तथा बल देता है।

सारांश यह कि यह जितनी भी क्रियाएँ भोजन का आनन्द लेने के लिये की जाती हैं, वे सब रसोई में ही होती हैं, इसी प्रकार आत्मा को भी भजन का आनन्द देने के लिये इतनी ही क्रियाएँ करनी चाहियें और नित्य प्रति करनी चाहियें।

देखो हमारा यह शरीर एक भजनशाला है, अर्थात् यह आत्मिक भोजन की तैय्यारी के लिये रसोई घर है। शौच, दातन स्नान आदि ही इसका झाड़ू तथा लेपन आदि हैं। (२) अंग स्पर्श और मार्जन क्रियाएँ, उन सब बरतनों की सफ़ाई के समान हैं, जिन में भजन रूपी आत्मिक भोजन तैयार होता है (३) यह मन ही वह बरतन है, जिसमें आटा गूंधना है। वह आटा क्या है ? सन्ध्या रूपी मंत्रों का पाठ जिसे श्रद्धा के जल से *विधि* पूर्वक गूंधना चाहिये। कहीं उतावलेपन (जल्दबाज़ी) से जल अधिक न पड़ जाय, जो आटा पतला हो जाय, या असावधानी से जल कम न हो कि वह सूखा ही रह जाय। अतः यह श्रद्धा (जल) भी ज्ञान पूर्वक हो । फिर बार-बार के अभ्यास से इस मन्त्र रूपी आटे को प्रीति पूर्वक एक तार किया जाता है। (४) चित हो वह बरतन या देगची है, जिस में सब्ज़ी बनाई जाती

है। इससे मनुष्य को भजन-रूप-भोजन का आनन्द और स्वाद आता है। (५) बुद्धि वह तवा है, जिसपर रोटी पकाई जाती है। मन के लिये तो श्रद्धा-जल की आवश्यकता है, चित्त और बुद्धि के लिये अग्नि की आवश्यकता है, अर्थात् तप तथा ज्ञान रूप अग्नि की।

चित्त के लिये तप रूप अग्नि की और बुद्धि के लिये ज्ञानरूप अग्नि की। तब ही यह मन्त्र रूपी रोटी पक कर सिद्ध होती है। (६) अहंकार वह बरतन अर्थात् थाली है, जिसमें परोसकर यह आत्मिक भोजन खाया जाता है। अतः यह अहंकार भी शुद्ध ही होना चाहिये। अहंकार की शुद्धि दान (त्याग) से होती है। जैसे नित्य कर्म में भोजन खाने से पहले "अग्नये स्वाहा" अग्निषोमाभ्याम् स्वाहा" आदि से आहुति दी जाती है और इस शुद्धि से ममता का त्याग होता है, इसी प्रकार भजन में से भी इस अहंभाव की आहुति दी जानी चाहिये, जिससे भोजन के समान यह भजन भी प्रभु के निमित्त हो जाय, इसलिये सन्ध्यारूपी भजन के अन्त में यह कहना चाहिये कि "हे प्रभो! यह तेरे निमित्त है। तेरे अर्पण है"। तभी कहीं उस भजन से पूरा-पूरा रस और आनन्द मिलेगा।

शिखा बन्धन

अब सबसे पहले चोटी❀ के सम्बन्ध में सुनिये। "शिखा"

❀धर्म दो प्रकार का होता है, एक चिह्नात्मिक और दूसरा क्रियात्मिक। चिह्न क्रिया की रक्षा करता है और स्मरण कराता है, जैसे

साधारणतः "चोटी" के नाम से ही प्रसिद्ध है। हमारे शरीर में चोटी वह स्थान है, जिससे ऊपर तथा ऊँचे और कोई स्थान नहीं। सबसे ऊँचा स्थान यही है। जहाँ चोटी रक्खी जाती है, उस स्थान को ही वैदिक परिभाषा में "ब्रह्मरन्ध्र" कहते हैं और यही "दशम द्वार" भी है, जो गुप्त कहा गया है। देखो ! मनुष्य के शरीर में नौ छिद्र तो प्रकट हैं। आँखें २, कान २, नासिका २, मुख १, गुदा १, मूत्रेन्द्रिय १. इन्हीं नौ द्वारों से मनुष्य का समस्त अन्दर का और बाहर का कार्य व्यवहार चलता है। एक भी द्वार विकारी हो जाय तो बड़ा दुःख होता है। इन्हीं द्वारों से सब साधारण मनुष्यों का जीवात्मा निकलता है। किन्तु जिसे ब्रह्म का साक्षात् हो गया उसका जीवात्मा और प्राण इस दसवें गुप्त द्वार से ही निकलता है यह निशान है ब्रह्म की प्राप्ति और आवागमन

सरकारी झंडा 'यूनियन जैक' साधारणतः कुछ पैसों के मूल्यों का एक कपड़े का टुकड़ा है, किन्तु यदि कोई इसे गिरादे तो युद्ध छिड़ जाय। मुसलमानों का झंडा भी यदि कोई गिरा दे, तो लट्ठ चल जाता है। समाज मन्दिर या गरुद्वारे का झंडा यदि कोई गिरा दे, तो मुक़द्दमा बाजी हो जायगी। चोटी और यज्ञोपवीत आदि भी चिह्न ही हैं। अनारकली (लाहौर) में एक जैंटलमैन साइकल सवार टांगे से टकरा कर गिर गया और मर गया। लोग इकट्ठे हो गये। मुसलमानों ने कहा इसे क़बरिस्तान ले चलो'। 'हिन्दू बोले, श्मशान में ले चलो'। कोई चिह्न चोटी या यज्ञोपवीत या लांगदार धोती का न था। पतलून कोट हैट वाला था। लड़ाई हो जाने का डर था। निश्चय हुआ कि हस्पताल में लजाकर इसे नंगा करके देखा जाय तो पता लगे कि यह कौन है ? हिंदू या मुसलमान। बिना चिह्न यह दशा कभी हो जाती है, अतः चिह्न को भी धर्म ठहरा दिया है।

से छूटने अर्थात् मुक्त होने का। मनुष्य के संसार में जन्म लेने का वास्तविक तथा चोटी का (सर्वोत्तम) आशय भी यही है।

२—प्राणों का केन्द्रीय स्थान सिर में यही है। यहां से ही प्राण जागृत अवस्था में सांसारिक व्यवहार के लिये नीचे की ओर सारे शरीर में बहते हैं और रात्री को हमें विश्राम देने और फिर ताज़ा बल पाने के लिये वापिस लौटकर यहाँ इकट्ठे हो जाते हैं।

३—शरीर में आठ चक्र हैं, और यह 'सहस्र दल' या शून्य चक्र' चोटी के स्थान का चक्र कहलाता है। समाधि अवस्था में योगी अपने प्राणों को इसी स्थान पर ले आता है और इस चक्र का भेदन करके परमात्मा का साक्षात्कार भी वह इसी स्थान पर करता है।

४—सुषुम्णा नाड़ी और मेरु दंड का इस चोटी से घनिष्ट सम्बन्ध है। कारण, चित्त की वृत्तियों का निरोध तभी होता है, जब जीवात्मा सुषुम्णा नाड़ी में आ जाता है। तब ही मन और इन्द्रियाँ अपने सारे विषयों से अलग हो जाती हैं और जीवात्मा परमात्मा में ऐसा मग्न हो जाता है, जैसे डोबा समुद्र में डुबकी लगाकर। हर एक मनुष्य रात को प्रतिदिन जब गहरी नींद लेता है, तब उसे किसी दुःख सुख या अमीरी ग़रीबी का कोई कष्ट और कोई भय तक नहीं होता। यह वह अवस्था है जो प्रत्येक मनुष्य को उसके अनजाने ही जीवन आनन्द प्राप्त करने के लिये स्वभावतः प्रभु की ओर से प्राप्त होती है और योगी तो जब चाहे अपनी इच्छा से घण्टों महीनों अपितु वर्षों तक के लिए इस बात को निरन्तर भोग सकता है।

सिर में शून्य चक्र का स्थान इतना बड़ा होता है, जितना

गाय का खुर (पैर) इसीलिए हिन्दुओं की चोटी भी उतनी जगह पर रक्खी जाती है।

इस चोटी के बांधते हुए बालों को दांय बांय हाथों से खींचने पर उन हाथों का प्रकाश और तम (positive and Negetive currents)चोटी द्वारा नीचे शरीर में चले जाते हैं। इससे मेरुदंड के मनके ऐसे ही सीधे हो जाते हैं, जैसे सितार के तारों को एक स्वर में करने के लिये खूंटी मरोड़ कर तारों को ऊपर खेंचता और कसना है। इस प्रकार चोटी के खींचने से मन की तीन तारें सत, रज, तम खिच कर सम हो जाती हैं। जब साधक अपना मेरुदंड सीधा करके आसन लगाकर बैठता है, तो सचमुच वह सम अवस्थित हो जाता है और प्रभु-भजन में उसके मन में चंचलता आने का गुमान तक भी नहीं रहता। यही है इसका आध्यात्मिक लाभ।

मेरुदंड के इस प्रकार ठीक करने से आयु-तंतु पक्के हो जाते हैं। इससे आयु बढ़ती है। सांस कम खर्च होते हैं। विचार-शक्ति तथा स्मृति तेज़ होती है। यह हुआ मानसिक तथा मस्तिष्क सम्बन्धी लाभ। ब्रह्मचर्य की भी रक्षा होती है। जिस मनुष्य की विचार शक्ति तेज़ हो, वह समाज के लिये उपयोगी और धन पैदा करने के लिये पुरुषार्थी हो सकता है। इसीलिये चोटी रखना हिन्दु जाति का एक चिह्न-धार्मिक चिह्न बन गया है।

संध्या यज्ञ है

अब रहा गांठ लगाने का प्रश्न! इस के दो अभिप्राय हैं। (१) जैसे बिखरे हुए बालों को गांठ लगा दी जाती है, वैसे ही साधक यह भावना करता है कि उस के चित्त में बिखरी हुई

वृत्तियां एकत्रित होकर ध्यान की गांठ में आ जांय। (२) परमात्मा का ध्यान (सन्ध्या) एक ब्रह्म यज्ञ है। प्रत्येक यज्ञ में यजमान पत्नी के साथ बैठता है। इस ब्रह्मयज्ञ में बुद्धि को जो आत्मा की पत्नी मानी जाती है, इस गांठ द्वारा आत्मा से जोड़ दिया जाता है।

विवाह में जब स्त्री और पुरुष का जोड़ा बनाया जाता है, तो एक का पल्ला दूसरे के पल्ले से बांध दिया जाता है। इसे गठजोड़ा कहते हैं। ऐसे साधक उस समय बड़े शुद्ध भाव से और सचेत होकर अपनी बुद्धि की आत्मा से चोटी की गांठ द्वारा बांध देता है, जिस से दोनों प्रभु के दरबार में, प्रभु के सन्मुख अपने शुद्ध हृदय की आहुति दे सकें।

यज्ञों में यजमान और उसकी पत्नी अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रखने के सिवा और कोई बात चीत या काम नहीं कर सकते। ऐसे ही सन्ध्या-साधक की आत्मा और बुद्धि सिवाय प्रभु चिन्तन के और कोई भी विचार मन में नहीं लाते। यही है वास्तविक अभिप्राय चोटी को गांठ लगाने का।

शिखा बंधन तथा गायत्री मन्त्र

किन्तु गायत्री मन्त्र से ही यह गांठ क्यों? वह इसलिये कि वेदों में गायत्री का स्थान चोटी का है। यही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एक मात्र साधन है। मनु महाराज ने कहा है:—

'सावित्र्यां परं नास्ति'

अर्थात् सावित्री से बढ़ कर कोई श्रेष्ठ मन्त्र नहीं। (२) गायत्री का अर्थ है—प्राण और ज्ञान। चोटी का स्थान ही प्राण तथा ज्ञान का केन्द्र है। (३) मनुष्य में यदि कोई चोटी की चीज़

अन्य प्राणियों से विशेष है, तो वह उसकी बुद्धि। अतः गायत्री मंत्र से ही, जो सद्बुद्धि देने वाला मंत्र है, चोटी को गांठ दी जाती है। (४) यह भी आप को स्मरण रहे कि ब्रह्मयज्ञ में वेद का पढ़ना पढ़ाना भी एक अंग है और वेद के पढ़ने से पहले उसका आरम्भ गायत्री-मन्त्र से होता है। इसीलिये इसका नाम है वेद-मुख। कारण संध्या ब्रह्मयज्ञ है, इसमें वेदों के मंत्रों का उच्चारण ही होता है, इसलिये भी मुख्यतया गायत्री ही इसमें पढ़ी जाती है। (५) गायत्री का ध्येय है—आत्मसमर्पण। अतः आरम्भ में ही बुद्धि और आत्मा का जोड़ लगाकर और सन्ध्या में प्रभु अर्पण होने का भाव पूर्ण कर दिया जाता है। (६) जब भी मनुष्य को अंधेरे में कहीं आना जाना पड़े, तो सब से पहले यह आवश्यक होता है कि वह प्रकाश को अपने आगे करे। कारण, सन्ध्या समय मनुष्य अपने अंधकारमय अन्तःकरण में प्रविष्ट होना चाहता है, इसीलिये वह गायत्री को जो प्रकाश का मंत्र है, बोलकर उसके प्रकाश की सहायता से अपनी आंतरिक यात्रा आरम्भ करता है। यह दार्शनिक ज्ञानतत्त्व (फ़िलासफ़ी) तो है हमारे चोटी के ब्रह्मज्ञानी आर्य्य पूर्वजों का। अब तनिक पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता (फ़िलासफ़रों) की भी सम्मति सुनियेः—

चोटी की महत्ता एक तत्ववेत्ता की दृष्टि में

गार्डन मैगज़ीन नं० २५८ सं० १८६६ ई० के पृष्ठ १२ पर डाक्टर ह्यूमन लिखते हैं—"मैंने कई वर्ष भारत में रह कर आर्य्य संस्कृति का स्वाध्याय किया है। आर्य्य लोग चिरकाल से चोटी रखते हैं, जिसका उल्लेख वेदों में भी पाया जाता है। दाक्षिणात्य (दक्षिण के लोग) तो आधे सिर पर ही चोटी रखते हैं। मैं

उनकी विलक्षण बुद्धि से बड़ा प्रभावित हुआ। यह चोटी बुद्धि के विकास में अवश्य कुछ न कुछ सहायता देती है। वैसे भी चोटी या सिर पर अधिक बाल रखना लाभदायक है। यूरुप का कोई भी देश ऐसा नहीं, जो सिर पर बड़े-बड़े बाल न रखता हो। मेरा हिन्दु धर्म में अगाध विश्वास है"। (आर्य्य वीर लाहौर ३१-१-३० से उद्धृत)

२—सर चारलिस पारल्युकस पाश्चात्य चिकित्सा के विशेषज्ञ ने लिखा है:—

"चोटी का शरीर के उस आवश्यक अंग से बड़ा गहरा सम्बन्ध है, जिस से ज्ञान की शुद्धि और शरीर के समस्त अंगों का संचालन होता है, जब से मैं चोटी की वैज्ञानिक महत्ता को समझा हूँ, मैं आप भी चोटी रखता हूँ"।

(सरस्वती, प्रयाग, सं० १९१४ ई० नं० ७ से उद्धृत)

३—अर्ल थामसन, एलार्म मैगज़ीन, सं० १९२१ ई० नं० १ पृष्ठ १९६ पर लिखते हैं:—"मैं जब चीन में भ्रमण करने गया, तब मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि चीनी भी, भारत-वासियों के समान, आधे से अधिक सिर पर बड़े-बड़े बाल रखते हैं। मैंने जब से इस विज्ञान की खोज की है, तब से मुझे यह विश्वास हो गया है कि आर्य्य लोगों का प्रत्येक नियम तथा कार्य विज्ञान से ओत-प्रोत है। चोटी रखना आर्य लोगों का धर्म ही नहीं, वरन् सुषुम्णा के केन्द्रों की रक्षा के लिये ऋषि मुनियों की खोज का एक विलक्षण चमत्कार हैं। फ़लैडिलफ़िया (अमरीका) का एक प्रसिद्ध विद्वान् डा० आई.ई. क्लार्क, एम.ए. एम. डी. का विचार है कि "सुषुम्णा की रक्षा आर्य लोग चोटी रख कर करते हैं और

यूरुप के लोग सारे सिर पर बाल रख कर। मैं इन दोनों उपायों में से विज्ञान की दृष्टि से चोटी रखने को अधिक उपयोगी समझता हूँ। कारण, यह ठीक उसी स्थान की रक्षा करती है, जिसकी मनुष्य जीवन के लिये सब से अधिक आवश्यकता है"।

भीमसेन—तो क्या वेदों में भी शिखा रखने और सिर पर बाल रखने का आदेश आता है ?

वनी—बेटा ! सारा विज्ञान वेद से ही तो प्राप्त होता है। देखो ! रंग सूर्य से पैदा होता है। मनुष्य शरीर के केश (बाल) अपना रंग चार बार बदलते हैं। बालकाल में जब (पदार्थ) ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती तब बालक के बालों का रंग पीतलाल (पीलापन-लिये लाल सा) होता है और जब वृद्ध अवस्था में ज्ञान-ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती, तब श्वेत हो जाते हैं। किन्तु युवावस्था में जब ज्ञान-ग्रहण करने की शक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान होती है, तब बालों का रंग काला होता है। कारण, काले रंग में सूर्य की किरणों का प्रभाव विशेष पड़ता है।

किसी भी मनुष्य को बाल (डाढ़ी, मूंछ और सिर के बाल) नहीं कटवाने चाहिये, सिवाय बाल, वृद्ध, और असमर्थ रोगी के। कारण, बालों में विद्युत ग्रहण करने की शक्ति है। इस शक्ति के सहारे केशों द्वारा द्यौतत्त्व मनुष्य के मस्तिष्क के ज्ञानतत्त्वों में बल पहुँचाता है। अथर्ववेद में लिखा है:—

'वृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायैशीर्षे केशामकल्पयत्'

अर्थात् ज्ञानाधिष्टान वृहस्पति-आकाश-ने पहले ही सूर्य के द्वारा सिर में केशों को उत्पन्न किया। सार यह है कि ज्ञान और सूर्य का केशों के साथ अपूर्व सम्बन्ध है।

यजुर्वेद अध्याय १६, मंत्र ६२ से भी यही आज्ञा मिलती है कि योगी लोग दाढ़ी, मूंछ और शिखा रक्खें।

ओ३म् आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम। केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥

अर्थात् सिंह के बालों के समान शिखा रखते हैं......

युवक—तब तो हमें भी चोटी रखनी चाहिये। आज कल के हम नवयुवक सिर के बालों को तो खूब बना संवार कर रखते हैं; किन्तु जिसकी परमावश्यकता है, उसकी परवाह नहीं। न हमें यथार्थ तत्त्व का ज्ञान ही है और न इसकी शिक्षा ही है।

वनी—यह तो भाई! अब आपकी इच्छा है। जचे तो तुरन्त ही प्रयोग (अमल) करो। यही बुद्धिमानों का लक्षण है।

युवक—महाराज! अब आप कृपा करके आचमन का भी रहस्य समझाइये। गले की कफ निवृत्ति तो हम जानते ही हैं। यह लाभ तो लिखा भी है, किन्तु शेष रहस्य भी चोटी के रहस्य के समान समझा देने की कृपा कीजिये।

वनी—पुत्र! इस प्रश्न का उत्तर सायंकाल दिया जायगा। अब पर्याप्त समय हो चुका है।

ॐ

तीसरी सीढ़ी

सन्ध्या उद्देश्य

आचमन मन्त्र

ॐ शन्नोदेवी रभिष्टय, आपो भवन्तु पीतये,

शंयो रभि स्रवन्तु नः ॥

(यजु ३६-१२, साम-उत्तरार्द्ध-१-१६,
ऋ-१०-६-४, अथर्व-१-६-१)

वनी—सब मनुष्य किस बात के इच्छुक हैं ?

युवक—सुख तथा शान्ति के।

वनी—सन्ध्या के इस प्रथम मन्त्र में, जिससे तीन बार आचमन किया जाता है, 'अभिष्ट' शब्द पड़ा हुआ है। 'अभिष्ट' कहते हैं, 'मन की प्रबल इच्छा को, परन्तु आपने कहा 'सुख तथा शान्ति'। इस मन्त्र में पहले "शन्नोदेवी' और अन्त में, "शंयो रभिस्रवन्तु नः" आपके माँगे हुए पदार्थ, जो मन का अभिष्ट है, वही मांगा गया है। यह वही दे सकता है, जो स्वयम् सुख तथा शान्ति का भंडार हो।

दो प्रकार की सुख तथा शान्ति

सुख तथा शांति दो प्रकार की होती है। विषम और सम। जो सुख किसी के त्याग से मिलता है, उसे 'शान्ति' कहते हैं। जैसे ज्वर आकर चला गया तो शान्ति है, परन्तु ग्रहण से जो सुख मिलता है, उसका नाम है 'परम शान्ति' अथवा 'आनन्द'। सुख

को 'मयः, भी कहते हैं। 'शम्' और 'मयः'। सांसारिक दुःखों के शमन अर्थात् शान्ति होने से जो सुख अनुभूति आत्मा में प्रकट होती है, उसे 'शम्' कहते हैं। दूसरी मयः—आत्मा में सांसारिक विषयों से अतिरिक्त अर्थात् मनन तथा निदिध्यासन द्वारा जो स्थिर शान्ति सी प्रतीत होती है अर्थात् जो आनन्द-मय उल्लहास सा प्रतीत होता है, उसे 'मयः' कहते हैं।

युवक—महाराज ! मैं तो जल के आचमन के सम्बन्ध में पूछ रहा हूँ, मन्त्र शान्ति और सुख की इच्छा बतलाता है।

वनी—बच्चा ! तुमने उतावला-पन किया। अस्तु......तुम स्वयम् ही बतलाओ, शरीर में अशान्ति कब होती है और मन में कब ?

युवक—शरीर में जब कोई विकार हो, रोग हो, तब अशान्ति, और मन में भी जब कोई विकार या खोट हो, तब।

वनी—शरीर के रोग औषधि द्वारा दूर होने से शरीर में शान्ति आयेगी। जल समस्त रोगों की औषध है।

जल से रोग निवृत्ति

वेद में आता है—"अप्सु विश्वानि भेषजः" अर्थात् जल समस्त रोगों की औषध है। मन से जब खोट दूर होगा अर्थात मन में जब पवित्रता आयेगी, तभी मन शान्त हो जायगा।

जल का गुण, कर्म, स्वभाव धारण करो

जल में पवित्र करने का गुण है, परन्तु स्थूल शरीर को। इसी का सूक्ष्म भाग—गुण, कर्म, स्वभाव—मन को शान्त करता है। नम्रता इसका स्वभाव है, परोपकार इसका कर्म और रस इसका गुण, इसके गुण को इस प्रकार चित्त में स्मरण करने से कि 'जल' सर्व संसार के प्राण की रक्षा करता है, सब का जीवन आधार है, उसके गुण को धारण किया जाता है और ऐसे ही कर्म करने से अन्तःकरण पवित्र होता है।

जल से मेधा प्राप्ति

जल से मेधा बुद्धि भी बनती है। इसीलिये ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

तेनहि पूतिरन्तरतः मेध्या हवै, आपः मेध्यो भूत्वा व्रनमुपयानि। (शतपथ ब्र०-१-१-१-१,)

अर्थात् जल मेधा के लिये हितकर है। जल शांत तथा पवित्र है। इसलिये मेधा प्राप्त होने पर मनुष्य में नम्रता—परोपकार का भाव आता है और खोट दूर हो जाता है।

जल का चन्द्रमा तथा मन से सम्बन्ध

जल का चन्द्रमा से सम्बन्ध है और चन्द्रमा का मन से। वेद भगवान् कहते हैं—

चन्द्रमा मनसो जातः (यजु ३१-१२,)

इसीलिये संस्कारों के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि (१) सीमन्तोन्नयन संस्कार चौथे, पांचवें, या छठे मास में करना चाहिये, जब शुक्लपक्ष चन्द्रमा पुरुषवाची नक्षत्र में हो। कारण,

चौथे मास में बालक की मानसिक शक्ति का विकास आरम्भ होता है, पांचवें में बढ़ता है और छठे में बुद्धि का प्रकाश होता है। मन के साथ प्रकाश-चन्द्रमा की ज्योति का विशेष सम्बन्ध है तथा स्मृति बृद्धि का भी।

(२) ऐसी ही निष्क्रमण संस्कार भी शुक्लपक्ष में और चूड़ा-कर्म तथा यज्ञोपवीत भी शुक्लपक्ष में ही होते हैं। इन संस्कारों का प्रयोजन मन तथा मस्तिष्क की शक्ति बढ़ाने का ही है। जल का चन्द्रमा के साथ विशेष सम्बन्ध होने से मन तथा बुद्धि पर भी जल का विशेष प्रभाव पड़ता है।

आयुर्वेद वाले कहते हैं कि गर्भवती स्त्री चन्द्रमा को देखा करे। पूर्णमासी की रात को खूब आल्हाद करे, जिससे बच्चे के मन पर उस शीतलता का विशेष प्रभाव पड़े।

चन्द्रमा रस को पैदा करता है। घी में जल का अंश अधिक होता है अतः यह रसदार है। घी से धी (बुद्धि) बनती है।

दिव्य जल

कहावत है—'जैसा घी वैसी धी, जैसा पानी वैसी वाणी'। यज्ञों द्वारा जिस जल की वर्षा होती है, उसमें दिव्य गुण होते हैं। उससे जो अन्न होता है, वह भी दिव्य गुण वाला होता है, जो मनुष्य उस अन्न को खाते हैं, तब उनके अन्तःकरण में भी दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं। जैसा कि यजुर्वेद १–१६–२० में आता है—

ओ३म् शर्मास्यवधूत ७ रक्षोऽवधूता अरातयोदित्या-स्त्वगसि प्रतित्वा दितिर्वेत्तु, । धिषणासि पर्वती प्रति

त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवस्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥ यजु०१-१६

भावार्थ– मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उन से यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये जो कि वृष्टि व बुद्धि का बढ़ाने वाला है, वह अग्नि और मन से सिद्ध किया हुआ सूर्य्य के प्रकाश को त्वचा के समा न करता है।

ओ३म धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषेधान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोसि ।।यजु० १-२०

भावार्थ—जो यज्ञ से शुद्ध किये हुये अन्न, जल और पवन आदि पदार्थ हैं वे सब की शुद्धि, बल पराक्रम, और दीर्घ आयु के बढ़ाने के लिये समर्थ होते हैं, इससे सब मनुष्यों को यज्ञकर्म का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये तथा परमेश्वर की प्रकाशित की हुई जो वेद चतुष्टयी अर्थात चारों वेदों की वाणी है उसके प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की इच्छा तथा अपना पुरुषार्थ करना चाहिये और जिस प्रकार परोपकारी मनुष्यों पर ईश्वर कृपा करता है वैसे ही इन लोगों को भी सब प्राणियों पर नित्य कृपा करनी चाहिये अथवा जैसे अन्तर्यामी ईश्वर वा सूर्य लोक संसार आत्मा और वेदों में सत्य ज्ञान तथा मूर्तिमान् पदार्थों का निरन्तर प्रकाश करता है वैसे ही हम सब लोगों को परस्पर सब के सुख के

लिये संपूर्ण विद्या मनुष्यों को दृष्टिगोचर कराके नित्य प्रकाशित करनी चाहिये और उन से हम को पृथ्वी का चक्रवर्ति राज्य आदि अनेक उत्तम- उत्तम सुखों को निरन्तर उत्पन्न करना चाहिये"।

अब प्रश्न हो सकता है कि सारे जलों में यह गुण समान रूप से नहीं सो सकता। कारण, कूएं के जल में, नदी के जल में, स्रोत (चश्मे) के जल में, और वर्षा के जल में, भेद है। कहीं का जल ज्वर पैदा करता है, कहीं का विबन्ध (कब्ज) करने वाला और कहीं का दस्त लाने वाला। लोग गंगाजल को दिव्य जल कहते हैं और वास्तव में वह है भी दिव्यजल। कारण, उस में नानाप्रकार की बूटियों और धातों से रगड़ा हुआ जल आता है। महात्मा गांधी जी ने जब अन्न न खाने का व्रत किया था तो उन के लिये किसी विशेष स्रोत का जल लाया जाता था, जिस से जीवन तंतु सुरक्षित रहते थे। वर्षा का जल भी इसीलिये दिव्य माना जाता है और इसीलिये शास्त्रकारों ने यज्ञपात्र विधान कर के सोने, चांदी, तांबे आदि को विशेषता दी है।

धातो का प्रभाव जलपर और कुशा

यदि आचमन पात्र इन धातों में से किसी धात का हो उसमें कुशा और (घास) डाल दी जाय, तो वह जल अमृत बन जाता है। *कुशा में अनेक गुण हैं। वह कई शारीरिक

---

*कुशा एक पवित्र घास मानी गई है। उसकी दो तोला जड़ छाया में सुखाकर कूट लो और आध सेर जल में डालकर आग पर पकाओ। चौथाई पानी रहने पर उतार कर छान लो और ठंडा होने पर ६ माशा शहिद में मिलाकर प्रातः संध्या समय प्रयोग करो ! इससे मधुमेह (जिया

रोगों को दूर करती है और मान-सिक सम्बन्ध में अपने अन्दर विद्युत विशेष का गुण रखती है। इसीलिये हिन्दू लोग ग्रहण के समय दैनिक आवश्यकता के उन पदार्थों में जो फेंके नहीं जा सकते हैं, कुशा डाल देते हैं, जिससे ग्रहण काल में पैदा होने वाली विषाक्त गैसें उन पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। यह कुशा मलेरिया,(मौसमी ज्वर) अतिसार तथा पेट के अनेक रोगों की औषध है : इस में वीर्य तत्त्व भी अधिक है। जिस बटवृक्ष के नीचे कुशा उगी हो और उसे गाय चरती हो, उस वृक्ष के ईशान कोन को लड़ी (शाखा) से कोंपल लेकर दही, माष और गोरी सरसों के दानों में मिलाकर उस स्त्री को खिलाई जाय जिस को कन्यायें ही होती हों और पुत्र न होता हो, उस के अवश्य पुत्र उत्पन्न होता है। यह आयुर्वेद का कथन है। जैसे बढ़ और पीपल की जड़ें दूर तक जातीं हैं, वैसे ही कुशा की जड़ें भी बहुत दूर तक चली जाती हैं और उस वृक्ष की जड़ों से मिल जाती हैं। इससे ही बढ़ की कोंपल में यह प्रभाव पैदा हो जाता है। कूप खोदने वालों का कथन है कि हम ने कुशा की जड़ को पचास फीट नीचे तक देखा है। जिस वृक्ष की जड़ें बहुत गहरी जायें उस के फल या जिस कूएं में जल बहुत गहराई से निकले उसका जल तथा उस स्थान के मनुष्यों का बल बहुत होता है और वह लम्बे भी अधिक होते हैं।

बेतुस अर्थात् मूत्र में खांड आने का) रोग हो जाता है। बरतन मिट्टी का होना चाहिये। यह गुरदे मसाने और जिगर को बल देती है और पत्थरी को तोड़ती है।

आपः के अर्थ

इस मन्त्र में 'आप' शब्द का अर्थ जल' भी किया गया है और परमात्मा 'सर्व-व्यापक' भी। साधक को जल हाथ में लेकर इसको पवित्र भावना की दृष्टि से देखना चाहिए कि ईश्वर *का व्यापक शान्त गुण जल रूप से जगत् में आ गया है और सर्वत्र शान्ति तथा सुख उत्पन्न करता है।*

जितने नाम पदार्थों के हैं वे सब परमात्मा के भी हैं। इसका कारण यह है कि उस पदार्थ में प्रभु का वह गुण विशेष रूप से आया है इसीलिये वह पदार्थ उस नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

तीन आचमन तीन प्रकार की शान्ति के लिये

तीन बार आचमन करने के लिये दाँई हथेली में जल लेकर उस में दृष्टि जमानी चाहिये और मनोभावना तथा मनःसंकल्प से तीन प्रकार की शान्ति अर्थात् शारीरिक शान्ति, (नीरोगता) मानसिक शान्ति (स्थिरता, चंचलता रहित होना) और आत्मिक शान्ति (पवित्रता) के लिये एक एक आचमन करना चाहिये। जब तक अपनी भावना दृढ़ रूप से दृष्टि द्वारा, जलमें न घुसा दो, तब तक आचमन न करो अर्थात् उस जल को इस प्रकार अपने भावों से प्रभावित (मैसमेराइज) (Messmerise) कर दो।

आचमन विधि

हथेली के बीच में जो गढ़ा सा है, उसमें जल भर कर, अंगुष्ठ के मूल और मध्य रेखा के मुख्य स्थान (ब्रह्मतीर्थ) से आचमन करना चाहिये अर्थात् जल को धीरे धीरे दोनों होठों से खींचकर अंदर प्रविष्ट करना चाहिये।

जल से कु-वृत्ति की रोक तथा सात्विक वृत्ति को जगाना

जैसे बेहोश आदमी पर जल छिड़कने से उसे होश आ जाता है, ऐसे ही यदि काम कुवासना उठे या क्रोध आदि आये तो जल का घूंट पीने से यह कुवासनाएँ तुरन्त शान्त हो जाती हैं, अतः जल अन्तःकरण और मस्तिष्क को भी पवित्र करने वाला है। *शीतल जल का आचमन* राजसिक और तामसिक वृत्तियों को दबा कर सात्विक वृत्तियों को जागृत कर देता है।

अब इस मन्त्र के अर्थों पर इस प्रकार विचार करोः—

अर्थ

वह (*आपः*) सब कामनाओं को प्राप्त कराने वाली (*देवी*) दिव्य प्रभु-शक्ति (*नः*) हम सब के लिये (*अभिष्टये*) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (*पीतये*) परम रस का पान करने के लिये (*शम्*) शान्ति दायक (*भवन्तु*) होवे और (*शंयो*) सुख को (*अभिस्रवन्तु*) बरसावे।

देवी—महाराज! मैं तो इन अर्थों के साथ इस मन्त्र को जपती हूँ :—

'हे कल्याणकारी! दिव्य गुणयुक्त! सर्वव्यापक प्रभो! हमारी मनोवांच्छित तृप्ति तथा आनन्द के लिये आप शान्ति दाता हो और चारों ओर से सुख की अमृत वर्षा करो!'

वनी—पुत्री! यह अर्थ भी ठीक है। दोनों में कोई भेद नहीं। केवल शब्द परिवर्तन है, भाव तो एक ही है। इस आचमन मन्त्र को पढ़ने और जल हाथ में लेकर आचमन करने का भाव ही

अन्तः करण पर जमाने की आवश्यकता है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का आरम्भ भी शान्ति से है और समाप्ति भी शान्ति पर ही है। जिस उद्योग से अंत में परम शान्ति का लाभ न हो, वह व्यर्थ ही है और जो उद्योग शान्त तथा समाहित चित्त से न किया जाय, वह कभी सफल नहीं हो सकता, अतः इस आध्यात्मिक उद्योग (सन्ध्या) का आरम्भ भी '*शन्नो देवी*' से हुआ है और समाप्ति भी *नमः शम् भवाय*' से। इस शान्ति की प्रार्थना को जीता जागता रूप देने के लिये वह पदार्थ लिया गया है, जो इस स्थूल जगत् में शान्ति का सुलभ साधन है ।

देवी–महाराज ! अपने अर्थ सुनाने से मेरा वास्तविक आशय अपनी शंका मिटाने का था कि चारों ओर से पूर्व-पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ही अभिप्रेत (मुराद) है या इस में कोई और आध्यात्मिक बात है ।

वनी–बेटी ! 'अभि' शब्द का अर्थ किसी ने 'सब ओर से, कर दिया है और किसी ने 'चारों ओर से'। इस से पूर्व-पश्चिम दिशाएँ तो अभिप्रेत नहीं, नहीं तो ऊपर और नीचे की दिशाओं का एतराज खड़ा हो जायगा। मनुष्य की अभीष्ट दशाएँ (अवस्थाएं) चार हैं:–शरीर के लिये अर्थ, मन के लिये काम, बुद्धि के लिये धर्म और आत्मा के लिये मोक्ष। यह चार पदार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि ही अभीष्ट है। इन चारों की प्राप्ति ही

परम शांति कही जा सकती है, अन्यथा नहीं। इसका रूप यों देखो ! यही 'चारों ओर' है, यही 'सब ओर' है, और यही सब कुछ है ॥

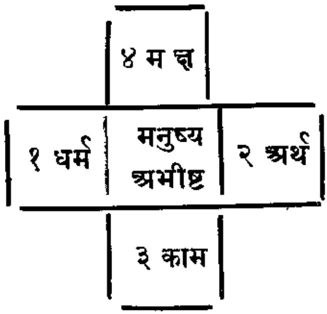

ॐ

उद्देश्य प्राप्ति का प्रथम साधन

अंगस्पर्श मन्त्र की व्याख्या

युवक—महाराज ! आचमन मन्त्र में जल प्रयोग का अभिप्राय तो समझ में आ गया, वह यह कि इस से चित्त शान्त हो जाता है और शांत चित्त होकर प्रभुभजन में बैठने से ही कुछ लाभ हो सकता है। कृपा करके अब यह भी समझा दीजिये कि अंग स्पर्श में जल प्रयोग से बल तथा यश किस प्रकार अंग में आ सकता है ?

वनी—बेटा ! यह मन्त्र बड़ा ही मार्मिक मन्त्र है। वास्तव में सारे सन्ध्या, भजन, प्रभु-पूजा, भक्ति आदि की नींव ही इस मंत्र और इससे अगले मन्त्र पर है। आचमन मन्त्र में केवल इसका आरम्भ ही है। उसमें तो केवल मनुष्य जीवन का उद्देश्य मात्र ही दर्शाया गया है अर्थात् यह मनुष्य को प्रभु-पूजा इस लिये करनी चाहिये कि उसे इस जीवन में शान्ति और सुख की प्राप्ति हो। यह तो हम सब जानते ही हैं कि जिस पदार्थ की इच्छा की जाय, उसे प्राप्त करने के लिये परिश्रम और पुरुषार्थ अर्थात् कर्म करने की आवश्यकता होती है। कारण, बिना कर्म किये किसी की भी कोई इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती।

युवक–हां, महाराज !

वनी–किन्तु एक निर्बल और दुराचारी मनुष्य को शान्ति

कैसे मिल सकती। कारण, इन दोषों से तो अशान्ति ही पैदा होती है, शान्ति कदापि नहीं। अतः इस मन्त्र में जो बहुत ही रहस्य की बातें बताई गई हैं उन्हें सब को ध्यान से सुनना चाहिये जिस से वे सदैव स्मरण रहें और समय पर उनसे लाभ उठाया जा सके।

सुनो ! *जल ही बल है, जीवन है* यह मैं पहले भी बतला चुका हूँ कि जल जितना गहरा जिस देश में होता है, वहां के मनुष्य उतने ही लम्बे, तगड़े और हृष्ट-पुष्ट होते हैं। उदाहरण रूप से रोहतक, हिसार, राजपूताना आदि प्रान्तों को देख लो।

थके मांदे पथिक जो गरमी में चल नहीं सकते, जब दो घूंट जल पी लेते हैं तो उनमें नई हिम्मत आ जाती है। बग्घी टांगों के घोड़े और छकड़ों के बैल जब गरमी से बेहाल हो जाते है और एक पग भी आगे नहीं चल सकते तब उन्हें थोड़ा सा जल पिला दो, तुरन्त उनमें नया जीवन आ जायगा और वे कोसों पैंडा काट डालेंगे।

जल हमारी जीवन रक्षा का भी कारण है। देखो ! वायुयान (हवाई जहाज) जलयान (जहाज) रेल, मोटर, मोटर साइकल सभी जल के बिना बेकार हैं। इसीलिये तो यह कहा है कि* जल ही तल है, जल ही मल है, जल ही फल है, जल ही अल है, जल ही रल है, जल ही चल है, और जल से रल है। जल में आकर्षण (मिलाप की शक्ति) होने के कारण प्रभु का मिलाप भी इसी जल के गुण से ही होगा।

---

* इसकी विस्तृत व्याख्या महात्मा जी ने अपनी एक पुस्तक 'विचार विचित्र' नामक में की है जो इस समय अप्राप्त है समय आनेपर दुबारा छपवाई जावेगी।

२—जल से यश

परमात्मा की समस्त सृष्टि विशेषतः वनस्पति तथा ओषधि आदि को सौन्दर्य प्रदान करने वाला जल ही है, जिसे देख कर अनायास ही मनुष्य प्रभु का गुण गान करने लगता है। कुछ काल तक वर्षा न हो, जल न बरसे, तो सारी खेतियां; वृक्ष, बन मुर्झा जाते हैं अर्थात् अधमरे से दिखाई देने लगते हैं। जल बरसते ही सब में एक नया जीवन और नया यौवन आ जाता है। मनुष्य शरीर की शोभा भी तो जल से ही है। यदि जल न हो, तो वह कपड़ा भी स्वच्छ न पहिन सके। यह निर्णय तुम्हीं कर लो कि मैले वस्त्र मनुष्य का यश कराते हैं, या अपयश ?

३—जल से बल

संसार में बल भी कई प्रकार का है। धन बल, जन बल, शारीरिक बल, सामाजिक बल, बुद्धि बल, आत्मिक बल आदि। इन सभी का आश्रय जल है कारण, जलसे ही समस्त अन्न तथा सम्पत्ति पैदा होती है। यहां तक कि सन्तान उत्पत्ति जलसे ही होती है। मेधा बुद्धि का सम्बन्ध पहले ही जल से बतलाया जा चुका है। समाज बल संगठन से बढ़ता है। जितना भी हम एक दूसरे को खाने पीने के लिये पूछेंगे, उतना ही संगठन सुदृढ़ होगा। मुसलमानों में यह गुण हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत अधिक है, तभी वे संख्या में हिन्दुओं से कम होते हुए भी उनसे बहुत बलिष्ठ हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि जल में संगठन बनाने का गुण है। यह इसका सूक्ष्म गुण समझा जा सकता है। इसीलिये यह गुप्त, विस्तृत और बड़ा प्रभावशाली है।

४—स्पर्श क्रिया

अंग स्पर्श का अर्थ है 'जल से अंगों को छूना'। इसमें जल से अपनी मानसिक भावना और दृष्टि द्वारा अपने प्रत्येक अंग को

हिप्नोटाईज् (Hypnotise प्रभावित) करना पड़ता है। इसकी विधि यह है कि बाएँ हथेली पर जल लेकर मध्यमा और ★अनामिका इन दोनों अंगुलियों को मिला कर जल छुए और फिर जिस-जिस इन्द्रिय का नाम लिया जाय उस-उसके +दायें और ×बायें इन अंगुलियों से जल लगाये।

★ अनामिका–मध्यमा और कनिष्ठिका अंगुली के बीच की अंगुली को कहते हैं।

+ दायें और बायें कौन कौन सा स्थान है, इन्द्रिय के उस स्थान पर इन दो अंगुलियों से जल लगाना या छूना चाहिये, जो गढ़े वाले हैं, दूसरे स्थान पर जल लनाने से प्रभाब नहीं होगा। जहाँ गढ़ा होता है, वहां ही जल का ठिकाना होता है। अपनी भावना से जब कुछ देर तक जल उस स्थान को गीला रखेगा, तो तन्तुओं द्वारा उसका मन पर प्रभाव पड़ेगा। छूने से अभिप्राय पोली पोली अंगुली लगाना नहीं, अपितु जैसे हिप्नाटिज्म की क्रिया करने वाले अपनी अंगुलियों से थोड़े से दबाव की क्रिया करते हैं, ऐसे जल स्पर्श करना चाहिए। इन गढ़े वाले स्थानों पर छोटे और बड़े चक्र हैं। योगी लोग उनका भेदन और जागरण करते हैं अंग स्पर्श क्रिया भी सीखने के योग्य है, अपनी इच्छा से जहां और जैसे चाहा जल लगा लेने वाली क्रिया नहीं।

× इन दोनों अंगुलियों (मध्यमा तथा अनामिका) का भी विशेष रहस्य है। कुछ लोग तो बड़ी बे-परवाही से एक अंगुली से ही जल लगा लेते हैं। कोई पहली से, कोई मध्यमा से, किन्तु ऋषि मुनियों ने जो मध्यमा और अनामिका से विधान किया है, इसे उनकी आन्तरिक दिव्य

५—पवित्रता-ब्रह्मचर्य

अब यों समझो कि यह मन्त्र साधन है उस साध्य का जिसका निरूपण प्रथम मन्त्र में किया गया है। साधन के बिना सिद्धि नहीं हो सकती, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। अन्तः करण की पवित्रता होती है कर्म से। कर्म किया जाता है शरीर से। शरीर संगठन है ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों का। अतः मनुष्य शरीर का बल तब ही बढ़ेगा, जब कि वह ब्रह्मचर्य रक्खेगा और

दृष्टि समझनी चाहिए। मध्यमा—बल की अर्थात् क्षात्र शक्ति की अंगुली है और अनामिका दान की अर्थात् वैश्य-शक्ति की। क्षत्री देश और जाति की अपने बल से रक्षा करता है और वैश्य दान से। इन दोनों अंगुलियों से अपने अंग छूकर उन्हें बलवान् और यशस्वी बनाने और अपने शारीरिक बल और शारीरिक कमाई से दीनों तथा देश और जाति की रक्षा का भाव सदा मन में रखने वाले का बल तथा यश निश्चय ही बढ़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। विद्वानोंने हाथ की पांचों अंगुलियोंकी उपमा इस तरह वर्णन की है। अंगुष्ठ—धर्म, प्रथमा—ब्राह्मण, मध्यमा—क्षत्री, अनामिका—वैश्य और कनिष्ठिका—शूद्र। बालक जब पैदा होता है, तो अंगूठा चूसा करता है, यह शुभ समझा जाता है। कारण शिशु पवित्र आत्मा होता है। उसकी पवित्रता का सम्बन्ध हृदय से है। हृदय वह स्थान है, जिसे शास्त्रकारों ने 'अंगुष्ठमात्र' कहा है। इसी में आत्मा और परमात्मा का निवास है। अंगुष्ट पर ही मनुष्य की पत और साखकी समस्त शक्ति तथा बल वरन् उसके अस्तित्व का निर्भर है। इसलिए कचहरी के समस्त कागज पत्रों पर अंगूठे का निशान लिया जाता है। प्रथमा ब्राह्मण इस

अपनी इन्द्रियों का दमन करेगा, संयमी बनेगा। यश बढ़ेगा तब जब वह किसी की सेवा करेगा। सेवा करने के लिये धन सम्पत्ति चाहिये। धन सम्पत्ति का साधन है *व्यवहार*। यह व्यवहार इन्द्रियों के सिवा और कौन कर सकता है ? अतः हमें इन इन्द्रियों से सदैव शुभ कर्म कराके ही यश तथा बल प्राप्त करना है और इन दोनों का ही साधन जल है।

६-कर्म इंद्रियां

इस मन्त्र में दस आवश्यक अंग गिनाये गये हैं, जिन से

लिए है कि वह पथ प्रदर्शन का कार्य करती है। मध्यमा अर्थात् बीच की अंगुली सबसे बड़ी तथा बलवान् है। राजा (क्षत्री) भी शारीरिक बल से बड़ा होता है। अनामिका से राजा को भी तिलक दिया जाता है। कारण धन बल की सहायता के बिना राज-बल कदापि पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अब रह गई कनिष्ठिका। वह सब से निर्बल है। इसीलिए वह सबकी सेवा करने वाली और शूद्रा समझी जाती हैं।

इनमें से अंगूठे का सम्बन्ध मुख से है। देखो ! धर्म ही संसार में मुख्य है। प्रथमा का नेत्र से, नेत्र ही नेता और पथ प्रदर्शक है। मध्यमा का श्रोत्र (कान) से। कारण, श्रोत्र और राजा ही दीन दुखिया की पुकार सुनते हैं। अनामिका का नासिका से, जिस पर प्राण का निर्भर है। कारण, धन ही प्रत्येक देश तथा जाति का प्राण है और वैश्य ही सबका प्राण-पालक है। कनिष्ठिका का सम्बन्ध है त्वचा से, जो सारे शरीर की सेवा का भार उठा रही है।

व्यवहार किया जाता है। पहला अंग है वाक् वाक्' यहां यह प्रश्न हो कि सकता है कि न तो सिर से ही आरम्भ किया,जो सबसे ऊपर है और न पैर से ही, जो सब से नीचे है और न नाभि से ही, जो बीच में है,'वाक् से क्यों आरम्भ किया गया है? यह पहला रहस्य है समझने का। अब मैं तनिक आप से एक प्रश्न करलूं। वह यह कि आपको प्रभु की यह लीला अद्भुत जान पड़ती है, या वैसी ही बनी हुई? तनिक सोचो तो सही! *मनुष्य की आँखें ऊपर हैं और कान पहलू में नीचे और पशु के कान ऊपर हैं और आँख नीचे यह क्यों?अन्य सब पशुओं के कान हिलते हैं किन्तु मनुष्य के नहीं हिलते?*

यह प्रश्न सुनकर सब चकित रह गये और एक दूसरे की ओर देखने लगे। किसी से भी कुछ उत्तर न बन पड़ा। अन्ततः वनी जी बोले:--"बस मित्रो! अब हैरान न होवो। इन आश्चर्य जनक बातों को हल करने के लिये ही पुरुष संसार में आया है। जब यह बातें हल हो गईं,तो समझो वह मुक्त होगया। समझदार और बुद्धिमान् बन गया, नहीं तो सदैव हैरान, चकित और बेसुध सा रह कर जन्म जन्मान्तर में फंसा रहेगा।

इस भ्रम (हैरानी) को दूर करने के लिये ध्यान-योग की आवश्यकता है। यही सन्ध्या ध्यान-योग भी है। यदि आप छोटी छोटी बातों पर ध्यान दें तो आप को वास्तव में बड़ा आनंद आयगा। प्रभु के सभी कार्य बुद्धि पूर्वक हैं।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'।

अर्थात् अत्यन्त शुद्ध ज्ञान और पूर्ण सिद्धि वाले प्रभु ने वेद

मन्त्रों को रचना की है। संसार में कोई पदार्थ भी बेकार नहीं बनाया, किन्तु नियम यह है कि जो वस्तु बुद्धि से बनाई गई है, उसे बुद्धि से ही जाना भी जायगा। जब इन इन्द्रियों का नियम पूर्वक संयम किया जाता है, तो सारे गुप्त रहस्य स्वयमेव खुल जाते हैं।

अब सुनो! 'वाक्' से यह सिलसिला क्यों आरम्भ हुआ और 'करतल करपृष्टे' पर क्यों अंत हुआ? देखो! यह वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कंठ, शिर, से चक्कर लगाता हुआ फिर 'बाहु तथा कर' पर समाप्त होता है। परन्तु क्यों? वस्तुतः यही समझने की बात है।

६—प्रधान कर्म इन्द्रियां

वाणी और हाथ यह दोनों ही प्रधान कर्म इन्द्रियां हैं। इनमें ही (अ) वाक् की पुष्टि हाथ करता है। जिह्वा से कहा जाता है और हाथ से कार्य रूप किया जाता है, तब कहीं वचन तथा कार्य समान होकर मनुष्य सफल मनोरथ होता है और सच्चा कहलाता है। यदि जैसा जिह्वा से कहे वैसा काम न करे, तो वह मनुष्य झूठा समझा जाय। कभी-कभी मनुष्य किसी से कुछ प्रतिज्ञा करता है। समय बीतने पर जब उसे याद दिलाया जाता है, तो वह कहता है, कि मैंने प्रण नहीं किया था और न कहा ही था। मुझे याद ही नहीं पड़ता। किन्तु जब उसे उसके हाथ का लिखा दिखा दिया जाय, तो उसे अपना प्रण ठीक-ठीक स्मरण आजाता है। इसीलिये जिह्वा की पुष्टि हाथ करता है जिह्वा से किसी को कहो "चुप रहो" यदि वह चुप नहीं होता, तो हाथ उसके मुख पर रख कर चुप करा दिया जा सकता है। किसी को जिह्वा से कहो "इधर आओ" वह न आवे तो हाथ से पकड़ कर उससे आज्ञा पालन कराई जा सकती है।

(आ) वाक् (जिह्वा) है तो कर्म इन्द्रिय परन्तु इस से बोला भी जाता है और चक्खा भी। यह दो कार्य करती है। बोलती भी है और रस भी लेती है। ज्ञान का आरम्भ यहां से ही होता है और कार्य का अन्त भी यहां पर ही होता है। यदि कोई मनुष्य पढ़ना चाहता है,ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो गुरु वाणी से ही उस ज्ञान का आरंभ होगा। इसीलिये इसे ज्ञान का आरम्भ कहा गया है और जिह्वा से कार्य का अन्त होता है, सत्य पर।

जो मनुष्य जब तक भी सब प्रकार के शुभ तथा पुण्य कर्म करता रहे किन्तु सत्यवादी न हो, वह तब तक परमात्मा और आत्मा का साक्षात् नहीं कर सकता। कारण, सच्चाई ही सब से बड़ी भलाई है, सब भलाइयों की मां है। तुम देखते हो कि संसार में भले तो बहुत है, परन्तु सत्यवादी बहुत ही कम हैं। इसीलिये 'वाक्' को प्रधान इन्द्रिय मान कर, इससे मन्त्र का आरम्भ किया गया है और

(इ) जितने भी संसार के व्यवहार चलते हैं, उनका अधिक सम्बन्ध वाणी से है।

(ई) वाणी से ही मनुष्य के दुष्ट अथवा श्रेष्ट होने की यह पहचान है। गुण अवगुण सब वाणी से ही पहचाने जाते हैं।

(उ) मनुष्य जब अपने मनुष्यत्व या किसी अन्य को कलंक लगता है तो हाथ या जिह्वा से ही लगाता है और यही दोनों कर्म प्रधान इन्द्रियां हैं।

परमात्मा ने गोरे, गंदमी, काले शरीर तो बनाये, किन्तु किसी की जिह्वा काली नहीं बनाई। यदि किसी की जिह्वा काली

हो, तो यह बड़ा दुर्गुण गिना जाता है। न किसी के हाथ की हथेली ही काली बनाई है। इससे अभिप्राय यही जान पड़ता है कि मनुष्य अपनी जिह्वा तथा हाथ को कलंकित न बनाये, कारण, वह अपने शरीर से निष्कलंक पैदा हुआ है।

अपनी महान् शक्तियों को भिखारी न बनाओ

(ऊ) मनुष्य शरीर में दो बड़े भिखारी हैं। एक तो जिह्वा और दूसरा हाथ। यही दोनों बड़े दानी भी हैं। यही शासक और शक्तिशाली भी हैं और यही दंड देने वाले भी और दंड भी इन्हीं को बड़ा मिलता है। जिस मनुष्य ने इन दोनों शक्तियों को भिखारी बना दिया, वही संसार में गिर गया और परलोक (अगले जन्म) में बहुत नीचे जा पहुँचा और जिसने इन्हें संभाल लिया, वह आप भी सब की संभाल बन गया।

मंगता (भिखारी) जिह्वा से मांगता है, गिड़-गिड़ाता है और भीख लेने के लिये हाथ सामने बढ़ाता है और उठाता है। इनकी प्रधानता से ही मनुष्य प्रधान कहलाता है। पशु में न तो वाक् (वाणी) ही है और न हाथ ही। मनुष्य द्रव्य का दान हाथ से देता है और विद्या (ज्ञान) का दान वाणी से। इसीलिये शास्त्र-कारों ने यही मुख्य तथा मौलिक (बुनियादी) चीज़ पहले रक्खी है जो मनुष्य की आत्मिक उन्नति का साधन है।

"कर्म खंड की वाणी ज़ोर"

यह गुरु नानक देव जी का वाक्य है। अर्थात् उसी मनुष्य की वाणी में बल होता है, जो क्रिया-शील (आमिल) है। महापुरुषों की, भक्तों की वा सन्तों की वाणी में देखो कितना बल होता है।

अधम से अधम और पापी से पापी उनके एक वचन से धर्मात्मा बन जाते हैं।

ऋषि दयानन्द जी महाराज जेहलम में उपदेश कर रहे थे। वहां एक तहसील-दार थे, पं अमींचन्द महता। वह रिश्वत खाने वाले, शराबी और व्यभिचारी थे, परन्तु रागी (ज्ञानविद्या-विशारद) थे। एक दिन कोई सज्जन उन्हें महाराज के सत्संग में ले आया। जब उपदेश हो चुका तो किसी ने कहा—"महाराज! यह तहसीलदार साहिब बड़े रागी हैं और कवि भी"। ऋषि ने कहा-"कुछ सुनाओ"। तहसीलदार साहिब ने गाया। महाराज अति गद-गद हो गए, बोले—"अमींचन्द! तुम हो तो मोती, किन्तु कीचड़ में पड़े हो"।

बस! यही शब्द थे, जिनसे अमींचन्द की काया पलट गई। तुरन्त सारे दुर्व्यसन त्याग दिये। मन और मस्तक में यही रट रहती। जब कोई कुवासना मन में आती, तुरन्त ऋषि के शब्द आकर रक्षा करते। मन कह उठता "अमींचन्द! तुम हो तो मोती, किन्तु कीचड़ में पड़े हो"। अन्ततः यह घटना प्रसिद्ध हो गई। सरकारी अफ़सरों ने आज्ञा भेजी "आपको अफ़सर माल बनाया जाता है"! इन्हें तरङ्ग आई, त्यागपत्र लिख भेजा।

नहीं प्यारी तहसीलदारी, नहीं जजी दरकार।
यदि राखो अपनी सेवा में, किंकर चौकीदार॥
हूँ गवर्नर तब क्या बनेगा, जाऊंगा अंत सिधार।
अमींचन्द जैसे नीच को तारो!
हे पिता पतित उधारण हार॥

२–एक स्थान पर एक साहुकार धर्मात्मा था, किन्तु उसका पुत्र इकलौता पुत्र महा दुर्व्यसनी (ऐबी)। महाराज उपदेश कर रहे थे। किसी ने साहुकार से कहा "लड़के को महाराज के पास ले जाओ,

सुधर जायगा" ! उसने कहा मुझे तो लज्जा आती है। आप ही उपकार करें।" अस्तु उस सज्जन ने उस युवक को उसके मित्रों द्वारा महाराज की सेवा में पहुँचाया। महाराज को उस सज्जन ने सब वृत्तांत पहले ही सुना रक्खा था। पूछा "लड़के! तुम विवाहित हो" ? बोला—"हाँ, महाराज!"

"तुम मांस मदिरा सेवन और वेश्या–गमन भी करते हो ?

"महाराज हां! साधुओं के सामने झूठ कैसे बोलूं" ?

महाराज ने कहा "हमारी एक बात सुनोगे" ? बोला "हां महाराज" ! महाराज ने कहा "यदि उस वेश्या से कन्या हो जाय तो वह किस की कहलायेगी" ? लड़का बोला-"मेरी"। महाराज ने कहा "यदि वह पेशे पर बैठ जावे तो तुम्हें लज्जा तो न आवेगी" ? यह सुनते ही युवक सचेत हो गया। शपथ खाई। "सब दुर्व्यसन त्याग दिये" ! आशीर्वाद ली और धर्मात्मा बन गया।

ऋषि और अन्य महात्माओं के भी ऐसी ही अनेक उदाहरण मिलते हैं!

८–यश और बल

मनुष्य का शारीरिक बल बढ़ता है उत्तम आहार* और व्या-

* निन्दनीय भोजन से यह गुण धारण नहीं हो सकेंगे। राजसिक और तामसिक भोजन से सत्य तथा प्रिय नहीं बोला जा सकेगा। सत्य होगा तो कटु, प्रिय होगा तो खुशामद से भरा हुआ, (अ) व्यायाम के बिना ब्रह्मचर्य्य नहीं रह सकता, (इ) ब्रह्मचर्य्य के लिये जो नियम संस्कारविधि (वेदारम्भ संस्कार) में ऋषि ने लिखे हैं, उनका पालन करना आवश्यक है।

थान से, परन्तु उस बल से यश नहीं होता। पहलवान बलवान् अवश्य होते हैं, परन्तु यशस्वी नहीं। ब्रह्मचर्य्य से भी बल आता है, परन्तु ब्रह्मचर्य्य केवल वीर्य्य-रक्षा करने का ही नाम नहीं। वीर्य्य इसकी नींव अवश्य है। "ब्रह्मचर्य्य के शब्दार्थ हैं :– ब्रह्म में विचरण करना"—"ब्रह्म" नाम है सत्य का, सत्याचरण का। समस्त इन्द्रियों से सद्व्यवहार करना ही ब्रह्मचर्य्य है ! इस ब्रह्मचर्य्य से जो बल आता है, वही यश पैदा करता है।

मनुष्य शरीर बतला रहा है कि मनुष्य कर्म करने के लिये ही संसार में आया है और इसके पवित्र कर्मों से ही संसार में सुख तथा शान्ति हो सकती है:–

दुनिया यह कर्म क्षेत्र है कोई सैरगाह नहीं।
जब तक है सांस तन में प्रभु को भुला नहीं॥

अथवा श्री गोस्वामी तुलसी-दास जी के शब्दों में :—

"कर्म प्रधान विश्व रच राखा।
जो जिस कीन सो तिस फल चाखा॥

इसीलिये प्रभु ने कर्म इंद्रियां बड़ी बनाई हैं और ज्ञान इन्द्रियां छोटी। किन्तु ज्ञान बिना कर्म निकृष्ट है, इसीलिये ज्ञान इन्द्रियों को ऊपर स्थान दिया है और कर्म इन्द्रियों को नीचे। अब एक एक इन्द्रिय का बल तथा यश किस-किस से बढ़ता है, यह भी सुनो:—

	बल बढ़ता है किस से ?	यश होता है किस से ?
(अ) *वाणी का	,, सत्य से	,, प्रिय और मधुर-बोलने से।
(आ) प्राण का	,, श्वास-श्वास में प्रभु स्मरण से।	,, दूसरे की प्राण रक्षा करने से।
(इ) चक्षु का	,, लज्जा से !	,, सब को मित्र-दृष्टि-से देखने से।
(ई) श्रोत्र का	,, ज्ञान तथा सत्योपदेश सुनने से !	,, दीन दुःखी की पुकार सुनने से।
(उ) नाभि का	,, ब्रह्मचर्य्य तथा-संयम से।	,, उत्तम तथा सुसन्तान पैदा करने से।

*वाणी की विशेषताएँ

निर्मल वाणी — निर्दोष वाणी

(अ) जो वाणी व्यवहार सम्बन्धो मल (लोभ) से रहित होकर बरती जाती है वही निर्मल है अर्थात् असत्य, छल और कपट से रहित।

(आ) जो वाणी कटु (कड़वी), अशुभ (बुराई से भरी) और अशिव (अकल्याणकारी) नहीं और अहंकार रहित है, वही निर्दोष है। जो मनुष्य अपनी वाणी को ऐसा बनाता है उसकी वाणी में लक्ष्मी को आकर्षण करने की शक्ति होती है। जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है, वैसे ही उनकी वाणी धन को खींचती है।

	बल बढ़ता है किस से ?	यश होता है किससे ?
(ऊ) हृदय का	,, धैर्य तथा संतोष- से।	,, उदारता और नम्रता से।
(ऋ) कंठ का	,, शुद्ध कविता से।	,, उत्तम स्वर आलाप से।
(ॠ) सिर का	,, निश्चयात्मिक- बुद्धि से। (सुविचार से)	,, विद्या-दान से या शीश दान से।
(लृ) बाहु का	,, अपने ऊपर विश्वास रखने से।	,, अन्य दीन पतित का भार अपने ऊपर लेने से।
(ॡ) करतल का	,,तल (हथेली) के-साफ लेन देन और-पवित्र कमाई से।	,, करपृष्ठ का यश ❋गुप्त दान और *करुणा से !

जल कहां लगायें

अंग स्पर्श करते हुए जब साधक बल तथा यश की अंगुलियों से शीतल जल लगाकर एक-एक अंग को छुएगा और अपनी मनोभावना अर्थ विचार सहित, मन में बोलेगा, तो जल में वह भाव अंकित होकर उस स्थान को प्रभावित (इन्जैक्शन) कर देंगे। प्रतिदिन यह अभ्यास मनुष्य के मन तथा मस्तक पर एक न एक दिन बड़ा प्रबल प्रभाव पैदा कर देता है। जितना-जितना भाग उस स्थान का है, उतने ही भाग तक जल लगाना चाहिये। नाभि पर गोलाकार में चार अंगुल उसके आस-पास जल लगाना चाहिये। इस से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, और काम-वासना रुकती है।

❋ देने वाला और है, जो देता है दिन रैन।
लोग मुझे दानी कहें ताते नीचे नैन (रहिमन)

*कर (हाथ) उणा (नीचे) अर्थात् हाथ को नीचा करना।

जब दोनों नासिका बंद हों और साँस न चले' तो नाभि के चारों ओर हाथ फेरने से तुरन्त नासिका खुल जाती है और प्राण सुगमता से चलने लगता है। नाभि के शुद्ध रहने से प्राण की गति ठीक रहती है और वीर्य्य रक्षा होती है। सिर पर तालु से चोटी तक और बाहु पर कंधे से डौले (डंड) तक एक लकीर के समान जल लगाना चाहिए।

ईश्वरीय पिंड रचना से उपदेश

परमात्म देव ने मनुष्य शरीर की रचना से यह प्रकट किया है अथवा यह शिक्षा दी है कि मनुष्य अपनी आंखों से अपने मुख अथवा अपनी ज्ञान इन्द्रियों को नहीं देख सकता। यदि वह कुछ देखता है तो गरदन से नीचे के शरीर को जिसमें सारी कर्म इन्द्रियां हैं। इससे प्रभुभक्त को यह शिक्षा मिलती है कि वह सदा अपने कर्म पर दृष्टि रक्खे और यह देखता रहे कि उसमें कहीं कोई दोष तो नहीं आगया? ज्ञान इन्द्रियों को जो वह नहीं देख सकता, इससे उसे यह समझना चाहिये कि हमें अपने ज्ञान को बड़ा समझ कर उस पर इतराना नहीं चाहिये।

भीमसेन—महाराज! अपने कर्म पर दृष्टि कैसे रक्खे? क्या कि मैंने कहीं झूठ तो नहीं बोला या क्रोध तो नहीं किया? अन्य पाप इन्द्रियों से क्या हो सकते हैं? हम तो विद्यार्थी हैं, हम से और तो कोई पाप होने की सम्भावना है ही नहीं।

वनी— बेटा! पाप तो अनेक हैं जिनका मनुष्य को ज्ञान नहीं! गिना तो मैं देता हूं, आगे तुम आप सावधान रहना।

९-आत्म-निरीक्षण

मनुष्य की इन्द्रियों में छिद्र हैं, अतः इन छिद्रों द्वारा मनुष्य में बहुत से अवगुण भर गये हैं। परमात्मा ने आभ्यन्तरिक मल

बाहर निकालने के लिये दिये थे, परन्तु हम ने बाहर से बुराइयों के मल अपने अंदर प्रविष्ट कर लिये। अतः हमें सदैव उन दोषों की पड़ताल करते रहना चाहिये। इसी का नाम आत्म-निरीक्षण है।

जिह्वा (वाणी) के अवगुण (१) झूठ बोलना (२) व्यर्थ बोलना (३) वाद विवाद (४) गाली (५) निन्दा (६) चुगली (७) कटु (८) कठोर (९) असभ्य (१०) अशुभ वचन (११) खुशामद (१२) विश्वासघात (१३) छल (१४) शराब पीना (१५) मांसखाना (१६) तम्बाकू खाना और पीना (१७) भंग पीना (१८) चरस पीना (१९) अफीम खाना (२०) तामसिक आहार।

(आ) *आंख के अवगुण*—(१) कुदृष्टि (२) दूसरे को बढ़ता देखकर डाह करना (३) द्वेष।

कान के अवगुण—अश्लील राग सुनना (२) पर-निन्दा सुनकर सुख मानना (३) अपनी स्तुति सुनकर हर्षित होना।

(१) *हाथ के अवगुण*—कम तोलना (२) कम नापना (४) लूट लेना (५) संध लगाना (६) झूठ लिखना (७) जालसाज़ी करना (८) जूआ खेलना (९) अकारण मारना।

इसी प्रकार सब अवगुणों की पड़ताल करनी चाहिये। अभ्यास के कारण मनुष्य दोष तो बहुत करता है, किन्तु उसे ज्ञान नहीं होता। सब से अधिक दोषों का केन्द्र मन है। इसमें अनेक छिद्र हैं।

(१) अहंकार (२) ईर्षा (३) राग (४) द्वेष (५) क्रोध (६) निर्दयता (७) प्रमाद (८) लोभ (९) स्वार्थ (१०) चोरी (११) मक्कारी (१२) मोह (१३) हत्या (१४) पेटूपन (१५) व्यर्थ व्यय (१६) कठोरता (१७)

असत्य (१८) कृपणता (१६) काम (२०) डाह (२१) कृतघ्नता (२२) बुरा चिन्तन (२३) बुरी इच्छा (२४) दूसरे को कष्ट में देखने की इच्छा (२५) दुःखिया का दुःख देखकर खुश होना (२६) मन में व्यर्थ भावनायें लाना (२७) मन से विषयों का चिन्तन करना इत्यादि इत्यादि ।

१०–जिह्वा एक, वाक् वाक् दो बार

युवक—महाराज ! जो इन्द्रियां दो-दो हैं, उन्हें इस मन्त्र में दो-दो बार गिनाया गया है और जो एक है, उन्हें एक-एक बार। किन्तु जिह्वा के एक होते हुए भी दो बार "वाक् वाक्" क्यों कहा गया ?

वनी—विद्वान् अपने-अपने विचार से इसका उत्तर भिन्न-भिन्न देते हैं। (अ) कोई कहता है एक वाणी दूसरी वाणी की शक्ति। किन्तु यह असंगत सा हो जाता है।

जब नाभि हृदय आदि एक एक के लिये दो-दो बार नहीं कहा जाता, उनकी भी तो शक्ति और गोलक दो जुदा चीजें ही हैं, (आ) कोई कहता है कि नाद ध्वनि और भाषा के लिये दो बार आया है। पशु नाद करते हैं और मनुष्य नाद और भाषा दोनों बोलता है। (इ) कोई कहते हैं वाणी की स्थूल तथा सूक्ष्म दो शक्तियां हैं। किन्तु मैंने अपना उत्तर तो पहले ही आप को बतला दिया है कि जिह्वा (वाणी) से ज्ञान का आरम्भ और कर्म का अन्त है। यह ज्ञान और कर्म दोनों के लिये प्रयोग होती है, अतः दोनों के लिए ही बल तथा यश की प्रार्थना है, सत्य ज्ञान से बल की और सत्य कर्म से यश की। (ई) इस से उच्च तर्क एक और है। पूज्य श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने एक बार अलीपुर

(जिला मुजफ्फर गढ़) में अपने उपदेश में कहा था कि "देखो ! "वाक् वाक् क्यों दो बार आया है ।" और उत्तर में यह उदाहरण दिया कि एक पहलवान बड़ा डील डौल का और बलिष्ठ, पूरा पहलवान है । जब कोई मनुष्य उसे देखता है, तो तत्काल कह उठता है—"आह ! यह पहलवान, पहलवान है" । या जैसा कोई न्यायाधीश (जज) न्याय करे और पूरा तौल ताल, बड़ी घुम्मर घेर पेचीदगियों में पहुँच कर उनकी घुण्डी खोल दे और अपना, निर्णय सुनाये, तो लोग कहते हैं कि भाई, यह न्याय, न्याय है और यह जज, जज है । अर्थात् जैसे पूरे सोलह आने कोई चीज होनी चाहिये। दूसरी बार शब्द बोलने से उसका सत्य साक्षी हो जाता है । जिह्वा (वाक्) एक है और संसार में सत्य भी एक ही है, किन्तु झूठ अनेक हैं । जब किसी का वचन सोलह आने सत्य हो तो कहते हैं—"यार उसका वचनवचन है ! अर्थात् यह "वाक्" शब्द दूसरी बार उस इन्द्रिय के पूरे सोलह आने सत्यवादिनी रहने के लिए समर्थन (ताकीद) अथवा साक्षी रूप से कहा जाता है । अब यह मन्त्र :—

"ॐ वाक् वाक् , ॐ प्राणः प्राणः, ॐ चक्षुः चक्षुः, ॐ श्रोत्रं श्रोत्रं, ॐ नाभिः, ॐ हृदयम्, ॐ कंठः, ॐ शिरः, ॐ बाहुभ्यां यशोबलम्, ॐ करतल कर पृष्ठे" ।

(अर्थात प्रभु कृपा से मेरी वाक् और सब इन्द्रियों को बल और यश प्राप्त हो) ....तो समाप्त हो गया, यदि किसी को और कुछ पूछना हो, तो पूछ ले । नहीं तो अगला मन्त्र आरम्भ किया जाय ?

देवी—आप ने जो कहा है कि 'पशु के कान ऊपर हैं तथा आंखें नीचे और मनुष्य की आंखें ऊपर हैं तथा कान बराबर में और पशु के कान हिलते हैं किन्तु मनुष्य के टिके हुए, इसका अभिप्राय क्या है ?

वनी—मनुष्य साक्षात करने के लिये आया है। जब तक दार्थ का साक्षात् नहीं कर लेता, तब तक उसे नहीं अपनाता। इसका त्याग तथा ग्रहण साक्षात् पर निर्भर है। सुनी सुनाई और कही हुई बात भूल जाती है, किन्तु आंखों देखी नहीं भूलती।

२—श्रुति में मनुष्य का उद्देश्य तम से प्रकाश की ओर जाना है, अतः यह प्रार्थना की गई है :—

ॐ असतो मा सद्गमय ! तमसो मा ज्योतर्गमय !!
मृत्योर्मा अमृतमृगमयेति !!

अर्थात् हे प्रभो ! मुझे असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलिये, यही मेरी प्रार्थना है।

शरीर की समस्त इन्द्रियों में प्रकाश और ज्योति केवल आंख को मिली है, इसीलिए यह सबसे ऊपर रखी गई है।

३—पशु के समान मनुष्य के कान नीचे नहीं बनाये गये, बराबर में बनाये गये हैं। कारण, श्रवण हमारे [कार्य की प्रथम कक्षा (मंजिल) है और साक्षात् की अन्तिम ! दोनों ही कार्य कारण रूप हैं। सब से पहले मनुष्य को *श्रुति* से ज्ञान मिला। यही तो श्रवण का मूल है, पीछे से उस ज्ञान का साक्षात्कार हुवा यह साक्षात्कार मनन के पश्चात् ही हो सकता है, उससे पहले

कदापि नहीं।

४—पशु के कान जो हिलते हैं, यह उसे एक प्रकार का दण्ड है। जब एक अध्यापक पाठशाला में उस लड़के को दण्ड देता है, जो उसकी आज्ञा नहीं मानता और अपने पाठ को दिल में स्थान नहीं देता, तो अध्यापक कहता है कि "इसके कान हिलाओ! वह अध्यापक भी शायद इसके मर्म को नहीं जानता। किन्तु यह एक प्रथासी चली आ रही है। नहीं तो लड़के पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ता कि इस प्रकार अध्यापक यह उसे प्रकट कर रहा है कि वह पशु है, मनुष्य नहीं। मनुष्य को प्रभु की इस दया से, कि उसके कान टिके हुए हैं, यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वह जिस बात को सुने उसे दिल में टिकावे। टिकाने के लिए मन को एकाग्र करना पड़ेगा, नहीं तो याद नहीं रहेगी, अतः जो मनुष्य अपने हित की बात को सुन कर भी मन में नहीं टिकाता, वह मनुष्य नहीं, पशु के ही समान है कि उसने भी सुनकर कान हिला दिया। इसलिये आप सब को भी इस बुझारत की ओर ध्यान रखना चाहिये।

५—कर्म इंद्रियों में जिह्वा और हाथ की ही प्रधानता है और ज्ञान इन्द्रियों में चक्षु तथा श्रोत की। इनका आत्मा के साथ विशेष सम्बन्ध है। वैज्ञानिकों ने पुतलियां बनाकर उनकी भी आंख, कान, नाक, मुख, पांव और हाथ ऐसे बना दिये कि वह अपने हाथ, पैर, नाक और मुख से बिजली या गैस की सहायता से मनुष्य के समान काम कर दिखायें। यहाँ तक कि आज कल तो युद्ध भी इनकी सहायता से लड़ा जाता है, किन्तु वे पुतलियां न तो उन आंखों से देख ही सकती हैं, और न उन कानों से सुन ही सकती हैं। रिकार्ड भर कर बेजान प्लेटों से गाने भी गवा दिये,

ड्रामे भी करादिये लैक्चर और वेद मन्त्र भी सुना दिये, किन्तु आँख और कान के काम करने में असमर्थ रहे। कारण, आंख और कान में आत्मा ही साक्षी हो सकता है, वही आंखों का द्रष्टा और कानों का श्रोता है।

शरीर श्री का साधन है।

बाबू—महाराज! हमने तो कई साधु सन्तों से यह सुन रक्खा था। कि यह शरीर क्षण भंगुर है मल का थैला है इसे क्यों प्यार करते हो? आप ने तो इसकी रचना बड़े ही काम की बतलाई।

वनी—नहीं भाई! ऐसे ब्रह्मज्ञानी तो सर्वथा मिथ्या ज्ञानी होते हैं। मनुष्य, चारों पदार्थ- धर्म अर्थ काम मोक्ष इस शरीर ही से तो पाता है।

शास्त्रकार कहते हैं *'शरीरमा द्यं खलु धर्मसाधनं'* अर्थात् निश्चय रूप से शरीर से ही धर्म के सब साधन हो सकते हैं। यह तो मन्दिर है भगवान् का! जिसका सप्त ऋषि पहरा देते हैं। दोनों आंखों में विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि, दोनों कानों में गौतम और भरद्वाज ऋषि, नासिका के दोनों नथनों में कश्यप और वसिष्ट ऋषि और मुख में अत्रि ऋषि। यदि मनुष्य यह जान जाय कि यह सब ऋषि उसकी रक्षा करने वाले हैं, तो जैसे एक योग्य सारथी लगाम को वश में रखकर घोड़ों को चलाता है और स्वामी को शीघ्र ही बिना किसी कष्ट के ठीक स्थान पर पहुँचा देता है, वैसे ही यह ऋषि भी अपने अपने इन्द्रिय रूप घोड़ों को ठीक ठीक चलाते रहें।

यजुर्वेद अध्याय ३४ का मन्त्र ४६ इसकी साक्षी देता है:—

ओ३म् सहस्तोमाःसहच्छन्दसऽआवृतः सहप्रमा ऋषयः

सप्त देव्याः । पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा ऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥

भावार्थः—जो राग द्वेषादि दोषों को दूर से छोड़ आपस में प्रीति रखने वाले हों; ब्रह्मचर्य से धर्म के अनुष्ठान पूर्वक समस्त वेदों को जान के सत्य असत्य का निश्चय कर सत्य को प्राप्त हो और असत्य को छोड़ के आप्तों के भाव से वर्तते हैं वे सुशिक्षित सारथियों के समान अभीष्ट धर्मयुक्त मार्ग में जाने को समर्थ होते और वे ही ऋषि संज्ञक होते हैं।

ओं प्राणः प्राणः

बाबू—इन सब अंगों के बल तथा यश की तो समझ आ गई महाराज ! किन्तु प्राण का बल "प्रभु स्मरण से" और यश दूसरों की प्राण-रक्षा से" कैसे बढ़ता है ? इसकी भी कृपा करके व्याख्या कर दीजिये।

वनी—देखो भाई ! भक्ति में शक्ति है। प्रभु में यदि हमारा श्वास-श्वास लगा रहे, तो उससे कुछ पाप तो होगा नहीं, और सांस भी कम खर्च होंगे। इससे आयु बढ़ेगी और साथ ही पाप न करने से शक्ति भी बढ़ेगी। दूसरों की प्राण रक्षा होती है, अन्न और जल के दान से। जहां दूसरों की सेवा की जाय, तो यश तो आप ही होगा।

ओं नाभिः

बाबू—जननेन्द्रिय भी तो एक इन्द्रिय है महाराज ! इसे तो गिना ही नहीं। केवल नाभि का संयम ही क्यों कहा है ?

वनी—"नाभि" जनन-यन्त्र का केन्द्र होने कारण उससे नीचे की सभी इन्द्रियां इसमें शामिल समझी जाती हैं।

ओ३म्

पाँचवीं सीढ़ी

मार्जन मन्त्र

बल तथा यश की रक्षा

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि !

प्राण स्वरूप प्रभो ! पवित्र
करो-सिर को !

ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः !

दुःख विनाशक प्रभो ! पवित्र-
करो-नेत्रों को !

ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे !

सुख स्वरूप प्रभो ! पवित्र
करो-कंठ को !

ओ३म् महः पुनातु हृदये !

महान् प्रभो ! पवित्र करो-
हृदय को !

ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम् !

जनक (जन्मदाता) प्रभो !
पवित्र करो-नाभि को !

ओ३म् तपः पुनातु पादयोः!

तपोमय भगवन् ! पवित्र करो
मेरे पैरों को !

ओ३म् सत्यम्पुनातुपुनः शिरसि!

सत्यशील प्रभो ! पवित्र-
करो फिर मेरे सिर को !

ओ३म् खम् ब्रह्म पुनातु सर्वत्र !

आकाश सम व्यापक प्रभो !-
मुझे सर्वत्र पवित्र करो !

अब 'अंगस्पर्श' के पीछे ' मार्जनमन्त्र' आता' है। 'मार्जन' का अर्थ है,मांजना,स्वच्छ करना,शुद्ध तथा पवित्र करना।*शरीर

* सभी धर्मावलम्बी प्रभु भक्ति में बैठने से पहले अपनी शारीरिक शुद्धि करते हैं । कोई स्नान से, कोई पंच स्नान से, कोई वज़ू से। मुसलमान लोग भी वज़ू करते समय हाथ, पैर, आंख, नाक, कान, मुख सब को पवित्र कर लेते हैं ।

को तो जलस्नान से शुद्ध कर लिया। अब उसी जल से भावना सहित मन्त्र द्वारा शुद्धि करनी चाहिये ।

साधक किस चीज़ को शुद्ध करना चाहता है, जिससे कि वह प्रभुकी परम ज्योति को टिका सके ?

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि ऋतुओं का और आठों पहर प्रत्येक बदलने वाले समय का मनुष्य शरीर और मन पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है । एक तो सामान्य और दूसरा विशेष । सामान्य तो सब पर एक ही जैसा होता है, किन्तु विशेष भिन्न भिन्न पुरुषों पर उनकी भावना के अनुसार होता है। अतः आचमन, अंगस्पर्श और मार्जन का भेद समझना आवश्यक है।

छींटे तो हमने 'अंगस्पर्श' में भी दे दिये थे । अब फिर यह मार्जन कैसा ?

यश और बल को पाकर भी गिरने की सम्भावना रहती है। इन दोनों को स्थिर रखने के लिये ही पवित्रता की आवश्यकता है। बिना पवित्रता के यह दोनों (बल तथा यश) रज और तम में बदल कर मनुष्य को फिर पापी बना देते हैं। मनुष्य को शुभ-कर्म भी यश के लिये करता है वह पवित्र नहीं समझे जाते।

पशु का मूल्य शरीर से है और मनुष्य का उसके सदाचार से। सदाचार ही मनुष्य का अस्तित्व है। अतः सबसे प्रथम 'भूः पुनातु शिरसि' कहते हुए शरीर पर जो जल छिड़का जाय, उसमें यही सद्भावना होनी चाहिये ।

मनुष्य शरीर का अस्तित्व प्राण से है। 'भूः' नाम है प्राण का। प्राण का स्थान है सिर, सिर रहने से ही मनुष्य जीवित है। सिर न रहे, तो मृत। किन्तु मनुष्य का अस्तित्व सदाचार से है, अतः सदाचार ही प्राण है।

"भूः भुवः स्वः" आदि सभी प्रभुके विशेषण युक्त (सिफ़ाती) नाम हैं। इन्हीं विशेषणों (गुणों) के धारण करने से मनुष्य में पवित्रता आती है और यह सबके सब गुण जल में हैं, जो इस मन्त्र में आठ नामों से प्रकट किये गये हैं।

आचार विचार तथा आहार व्यावहार

(अ) सिर की पवित्रता होगी सदाचार से, (आ) नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता होगी सुविचार से, (इ) कंठ की पवित्रता होगी शुद्ध आहार से, (ई) हृदय की पवित्रता होगी शुद्ध व्यवहार से।

अब पहले यह समझ लो कि सिर (१), नेत्र कान, नाक, जिह्वा (२), कंठ (३) और हृदय (४) से ही लोक व्यवहार का सम्बन्ध है। इसके लिये मनुष्य की चार चीजें—आचार, विचार, आहार, व्यवहार पवित्र होनी चाहिये।

अगले भाग में इन चारों की पवित्रता को स्थिर रखने के साधन बतलाये गये हैं। नाभि की पवित्रता होगी ब्रह्मचर्य से और पद (पैरों) की तप से। ब्रह्मचर्य के बिना आचार, विचार, आहार और व्यवहार शुद्ध नहीं रह सकते। परन्तु इन सबका आशय है—'सत्यम् पुनातु पुनः शिरसि'—अर्थात् 'सत्य की प्राप्ति' जिस से सिर अर्थात् मनुष्य जीवन की पवित्रता है, और सत्य के धारण करने पर मनुष्य "सर्वत्र" फैल जाता है और सबको पवित्र करता है। यह "ओ३म् खम् ब्रह्म पुनातु सर्वत्र" का अर्थ है।

दूसरा अर्थ

इसका एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। वह आरम्भ में ही इस मन्त्र के नीचे साथ साथ शब्दार्थ रूप में लिख दिया गया

है। इन साधारण अर्थों को तो प्रायः सभी सन्ध्या करने वाले जानते हैं। यह सुगम अर्थ है।

प्रभु के गुण याद कर के नाम लेने से जल द्वारा वह स्थान तब तक कैसे पवित्र हो जायेंगे, जब तक इसका कोई अभिप्राय न हो। अतः पहले वह अभिप्राय समझिये!

ॐ भूःपुनातु शिरसि

"भूः" का अर्थ है 'प्राणरक्षक'। जो दूसरों के लिये प्राण देगा, या दूसरों के प्राण बचाने के लिये अपना सिर बलिदान करता है, उसी का सिर पवित्र समझा जाता है। ऐसे मनुष्य का यश सदा के लिये स्थिर रहता है और उसके पवित्र नाम में भी यह बल होता है जो औरों को उत्तेजना देता है; शहीदों के नाम लेने से प्रत्येक काम करने वालों में शक्ति पैदा हो जाती है।

ॐ भुवःपुनातु नेत्रयोः

'भुवः' का अर्थ है 'दुखःनाशक' जो दूसरों का दुःख दूर करेगा, जिसकी आंख किसी का दुःख सहन न करसकेगी, जिसके कान किसी की कष्ट भरी पुकार सुन कर रह न सकेंगे, उसकी ज्ञान इन्द्रियाँ पवित्र हो जायगी।

ॐ स्वःपुनातु कण्ठे

"स्वः" का अर्थ है 'सुख स्वरूप' जो अपने कंठ के स्वर आलाप से दूसरों को प्रसन्न कर देगा, दूसरों का दुःख दूर करेगा उसी का कंठ पवित्र हो जाएगा।

ॐ महःपुनातु हृदये

"महः" का अर्थ है महान् बड़ा'। जिन मनुष्यों का हृदय प्रत्येक छोटे बड़े के लिये खुला है, जो निर्बलों और छोटों को

अपने हृदय में स्थान देता है और अधर्मी तथा पापी के पाप का डट कर सामना करता है; उसी का हृदय पवित्र और महान् होता है।

ॐ जनः पुनातु नाभ्याम्

"जन:" का अर्थ है 'जननी'। जो जननी के समान पालना करता है, उसकी नाभि पवित्र हो जाती है।

ॐ तपः पुनातु पादयोः

❀ "तप:" के अर्थ हैं 'तप करने वाला' या दंड देने वाला। जो इन उपर्युक्त बातों की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो जाता है, तप करता है, उसके पैर पवित्र होते हैं और उसके पवित्र चरणों को सब झुकते और चूमते हैं।

ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि

सत्य के लिये अपना सर्वस्व अर्थात् सिर तक दे देना ही सिर को पवित्र करता है। उस का सिर जन्म जन्मान्तर तक पवित्र रहता है। पुन: पुन: उसका नाम स्मरण

❀ यदि मनुष्य १२ वर्ष नंगे पैर रहे, तो उसे सरदी, गरमी, आँख पीड़ा अथवा नेत्र-ज्योति में क्षीणता नहीं होती (२) मधु मेह (पेशाब में खांड आना (Diabetes) का रोगी यदि चार वर्ष तक नंगे पैर चले फिरे, तो उसका रोग दूर हो जाता है। (३) नंगे पैर चलने फिरने वाले की जठराग्नि पुष्ट होती है। (४) पैर की सरदी गरमी सिर पर प्रभाव नहीं डालती। (५) सिर में अति ज्वर हो, तो पैर रगड़ने से सिर की गरमी उतर जाती है अर्थात् सिर में विकार आ जाय, तो तप से दूर हो जाता है। (६) तप ही मनुष्य की आत्मा को पवित्र करता है, इसी लिये पैर पूजे जाते हैं।

किया जाता है।

ॐ खम् ब्रह्म पुनातु सर्वत्र

"खम्" का अर्थ है व्यापक आकाश के समान। 'निर्मल निर्दोष' वीत-राग पुरुष ही सर्वत्र" पवित्र होता है।

यह सन्ध्या, भक्ति, प्रभु-पूजा और अन्य क्रियायें केवल इसलिये हैं कि मनुष्य पवित्रात्मा बन जाय। वह स्वयम् शान्ति पाये और दूसरों को शान्ति दे सके। आत्मिक ज्ञान के बिना प्राकृतिक विज्ञान कदापि त्रिकाल में भी शान्ति नहीं दे सकता। यदि इस भौतिक शरीर के समान आध्यात्मिक शरीर को भी बना लिया जावे, तो साधक को अपने साधन करने में आध्यात्मिक शरीर को देखने मात्र से ही सारी शिक्षा मिल सकती है।

हमारा आध्यात्मिक शरीर (चित्र) पृष्ट ११७ पर देखें)

शारीरिक आध्यात्मिक व्याख्या

अंग अंग......

१-सिर—सत्य—सत्य की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। सिर की स्थिरता से ही अस्तित्व है, अतः सिर ही अस्तित्व है।

२-मुख—ज्ञान—ज्ञान से बन्धन कटता है और ज्ञान से ही पहचान है।

३-कंठ—त्याग दया—त्याग से शान्ति मिलती है
(गरदन)

सन्ध्या सोपान

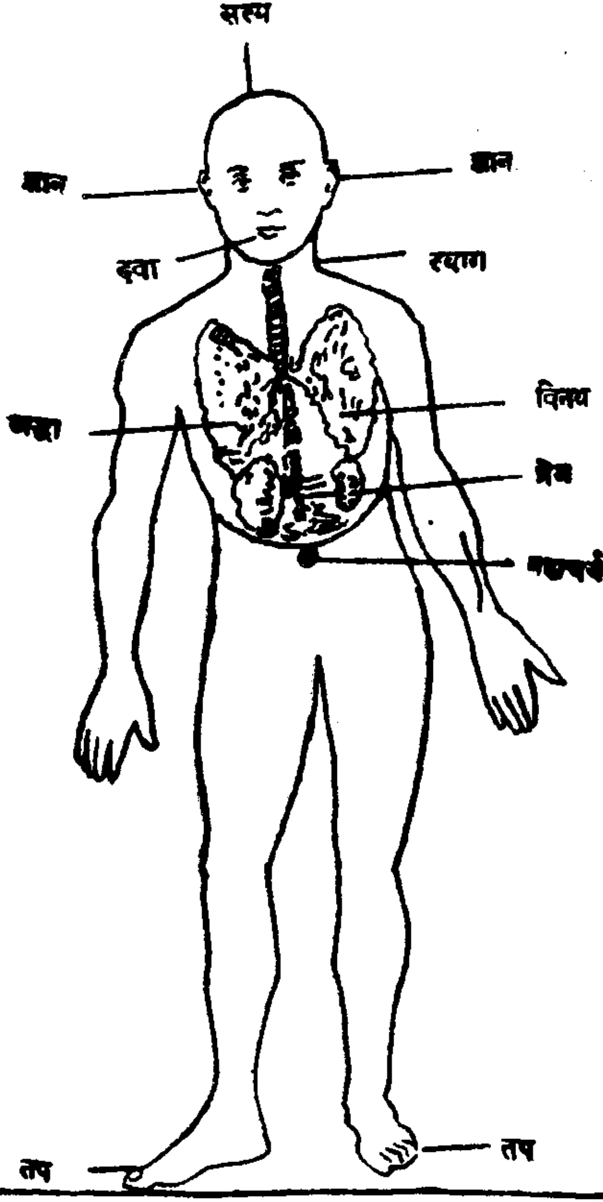

४—हृदय— प्रेम—प्रेमसे मिलाप होता है। श्रद्धाके बिना न प्रेम हो सकता है, न त्याग। न ज्ञान की प्राप्ति, और न ही सत्य

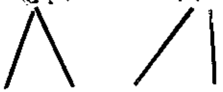

फेफड़े फेफड़े विनय श्रद्धा की प्राप्ति। विनय से मनुष्य देवता बन जाता है। प्रभु का भक्त विनय का पुतला होता है। वह प्रभु की प्रजा को प्यार करता है। उसके स्वभाव में मिठास रहती है। क्रोध, अभिमान ईर्षा, द्वेष उसके पास तक नहीं फटकते। फल से लदी शाखा के समान वह सदैव नीचे ही झुकता रहता है।

५—नाभि—ब्रह्मचर्य्य—ब्रह्मचर्य्य तथा तप दोनों कार्य कारण रूप होने से आवश्यक हैं।

६—पैर—तप— तप पर ही सब कुछ स्थिर है।

७—खम्—प्राण ब्रह्म—प्राण शरीर में सर्वत्र हैं, ब्रह्म भी सर्वत्र है।

तप की व्याख्या

जैसे यह सारा पार्थिव शरीर पैरों पर ठहरा हुआ है, ऐसे ही समस्त आध्यात्मिकता, परोपकार तथा शुभ कार्य तप पर आश्रित हैं। तप आध्यात्मिक पैर हैं। ब्रह्मचर्य्य और तप का ऐसा ही आपस का सम्बन्ध है, जैसा प्रेम और त्याग तथा सत्य और ज्ञान का। यह एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकते। यह दोनों अपनी अपनी गाड़ी के पहियों के समान हैं।

यम में जो ब्रह्मचर्य्य का स्थान है वही नियम में तप का है। जिसमें ब्रह्मचर्य्य है, उन्ही में तप धैर्य्य से होता है। जिन में पहले

ब्रह्मचर्य नहीं, उन्हें हठ से तप करना पड़ता है, किन्तु उनका शरीर शिथिल और रोगी हो जाता है। वह आत्मिक उन्नति तो कर लेते हैं, किन्तु शारीरिक नहीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार बिना तप के नहीं जीते जा सकते।

जल का तप से सम्बन्ध

जल में तरंगें उठती हैं, फिर भी वह बहता ही रहता है, ऐसे चित्त की वृत्तियां हैं।

जल जब अग्नि के संसर्ग में आता है, तब तप जाता है। उस तपने से वह सूक्ष्म होकर आकाश में स्थान पाता है और बरस कर पहाड़ों पर जम जाता है। शुद्ध, निर्मल, शान्त और शीतल बर्फ बन जाता है। तब उसकी अवस्था ऐसी विनम्र हो जाती है कि चाहे सूर्य की कठोर गरमी उस पर पड़े वह पिघल तो जायगा, किन्तु अपने शीतलपन को नहीं त्यागेगा और पिघल कर भी वह संसार का उपकार ही करेगा। जो भी उसे छुयेगा एकबार तो शीतल हो ही जायगा। ऐसे ही जिस मनुष्यका चित्त (अन्तःकरण) तप के सँसर्ग में आता है वह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है, अर्थात् इस पृथ्वी-लोक से ऊपर हो जाता है। इस ऊपर की अवस्था का नाम ही आत्म-साक्षात् है। जो मनुष्य आत्म-साक्षात् कर लेता है, उसकी वृत्तियाँ बर्फ के समान शीत हो जाती हैं। फिर जो अन्य पुरुष भी इन ऐसी पवित्र निर्मल आत्माओं को स्पर्श करते हैं, उनके दर्शन कर लेते हैं, वह भी एक बार तो शांत और शीतल हो जाते हैं।

जल का यह गुण बहुत ही अनुकरणीय है कि जल जब बहता है, तो उसके आगे यदि कोई खड्डा, छिद्र अथवा गढ़ा आजाय,

तो वह जब तक उसे भर न लेगा, आगे न चलेगा, अतः साधक को यह गुण सदैव स्मरण रखना चाहिये।

नित्य प्रति *आत्मनिरीक्षण* का आशय भी यही होता है कि जो दोष आ जाय उसे पहले पश्चात्ताप से, फिर प्रार्थना से और फिर प्रतिज्ञा से निकाल देना चाहिये। तब आगे पग बढ़ाना चाहिये।

किसान लोग अपनी बोई हुई खेती में बार-बार गोडी करते हैं। बीच में घास उग आता है। यदि वे यह घास न निकालें, तो उपज (पैदावार) कमजोर और थोड़ी हो। भूमि की सत्ता भी कमजोर हो जाती है। गोडी करते रहने से उपज बहुत और प्रबल होती है तथा भूमि तो ठीक होती है। ऐसे आत्म-निरीक्षण करते रहने से मन पवित्र तथा सुदृढ़ हो जाता है और की हुई पूजा बहुत फल लाती है।

व्यवहार शुद्धि

इतने ही में वनी जी की दृष्टि एक बूढ़े आदमी पर पड़ी, जो रो रहा था। बड़े करुणामय स्वर में जोर से बोले—"क्यों वृद्ध सज्जन! क्या पश्चात्ताप हो रहा है?" सब की दृष्टि तत्काल उस वृद्ध सज्जन की ओर उठ गई और निस्तब्धता छा गई।

वृद्धसज्जन—महाराज! मैं रो रहा था कि सारी आयु बीत गई। कई घण्टे सन्ध्या जप भी किया परन्तु शांति नहीं आई, न आनन्द ही मिला।

वनी—क्या काम करते हो?

वृद्ध—अपना कार व्यवहार करता हूँ। प्रभुकृपा से कोई कमी नहीं। व्यवहार बड़ा चलता है।

वनी—प्यारे भाई! किसान जब शरीर से खूब कमाई कर लेता है तो उसे खूब भूख लगती है, फिर जो आहार साधारण से साधारण और एक प्रकार का ही उसके सामने आता है, वही उसे बड़ा सुस्वादु लगता है और उसे पुष्टि भी बड़ी देता है, या कोई अन्य व्यवहारी मनुष्य भी शरीर से व्यायाम कर लेता है, तो उसे भोजन का बड़ा आनन्द आता है और वही भोजन उसके शरीर में बल तथा क्रांति पैदा कर देता है। किन्तु जो व्यायाम या श्रम नहीं करते और नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बना-बना कर खाते हैं, फिर भी उनमें बल पैदा नहीं होता और वे शिकायत ही करते रहते हैं। ऐसे ही जो मनुष्य पवित्रता से व्यवहार करता है और प्रभु की थोड़ी सी पूजा भी कर लेता है तो वही उसके लिये आनन्द देने वाली तथा तेज पैदा करने वाली हो जाती है, किन्तु जिन मनुष्यों के व्यवहार पवित्र नहीं, उन्हें नाना प्रकार की पूजा, सन्ध्या, उपासना, प्रार्थना, यज्ञ, हवन, तप, व्रत आदि करने से भी आनन्द और रस नहीं मिलता, और वे सदा यही शिकायत करते रहते हैं कि हमारा मन शांत नहीं होता, यद्यपि बहुत जप तप करते हैं। सद्व्यवहार करने वाला मनुष्य यदि केवल प्रार्थना भी करता है तो उसी में उसे आनन्द आता है। या थोड़ा सा जप भी करता है तो गद्-गद् हो जाता है। यज्ञ हवन करता है, तो आनन्द से फूला नहीं समाता। उसका चित्त तुरन्त समाहित हो जाता है और शान्ति रस का पान

करता है ।

वृद्ध—महाराज ! क्या करें ? व्यवहार में कई पाप हो जाते हैं। फिर व्यवहारी आदमी के लिए तो कठिन है ? सन्ध्या से क्या लाभ ?

वनी—मैं तो समझता हूँ कि बिना पाप किये व्यवहार न चला सकना भी ईश्वर विश्वास की कमी और बे समझी है। अस्तु......यूँ समझो ! स्नानालय में प्रायः मूत्र की दुर्गन्ध आती है। जो मनुष्य स्नानालय में मोरी के निकट लघुशँका करते रहते हैं, परन्तु उसी समय ही वहाँ जल नहीं डाल देते, वहां कुछ दिन पीछे ऐसी दुर्गन्ध आने लगती है कि चाहे फिर मशकों और मटकों जल डाल कर भी साफ़ करो तो तब तक दुर्गन्ध नहीं जाती, जब तक कि फ़िनाइल के पानी से उसे न धोया जाय। परन्तु प्रति दिन लघुशँका करते ही थोड़ा सा जल डाल देने से भी दुर्गन्ध चली जाती है, या अंश मात्र रह जाती है और उसे भी कुछ दिन पीछे फ़िनाइल से धोना पड़ता है, ऐसे ही मन रूपी स्नानालय में जहाँ दुर्गन्ध तथा अपवित्रता का ही व्यवहार है, यदि उसे प्रति दिन सन्ध्या आदि जप से साफ़ न किया जाता रहे तो फिर उसकी सफ़ाई के लिये भारी प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है।

ओ३म्

छठी सीढ़ी

आसन तथा प्राणायाम

ध्यान चक्र

बाबू—महाराज ; अब मैंने यह धारणा करली है कि मैं बड़े श्रद्धा तथा प्रेम के साथ नियम पूर्वक सन्ध्या किया करूँगा, किन्तु बैठने की भी कोई विधि है, या जैसे पाल्थी (चौकड़ी) मारकर साधारण रूप से बैठता हूँ वही पर्य्याप्त है ?

वनी—बैठने-बैठने में भी भेद है। एक बैठना तमोगुणी है, एक रजोगुणी और एक सतोगुणी। टांग पर टाँग धर कर सेठों के समान बैठ जाना रजोगुणी। और आलस्य प्रमाद से कभी गोडे खड़े कर के बैठ जाना, कभी एक टांग नीचे और एक गोडा खड़ा करके बैठना, यह तमोगुणी है।

आपने कभी सुना अथवा देखा हो, यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ संस्कार में जब शिष्य गुरु के सम्मुख बैठता है तो वह गायत्री का उपदेश लेने के लिये दो जानू (दोनों घुटने टेककर) बैठने की आज्ञा देता है। मुसलमान लोग भी अपने बड़ों के सामने दो जानू टेककर ही बैठते हैं और निमाज़ भी इसी आसन से पढ़ते में। यही बैठना भी मान (अदब) श्रद्धा और सात्विक वृत्ति लाने वाला होता है। कारण इसमें मेरू दंड सीधा रहता है। जिस आसन में मेरूदंड सीधा रहे वही सात्विक और पूजा में बैठने योग्य होगा।

बाबू —क्या दोजानू टेककर बैठना भी ठीक वैध है ? मैं तो समझता था कि मुसलमान और अंगरेज 'नील डाउन' (Kneel-Down) होकर जो बैठते हैं, यह भूल करते हैं। फिर आसन कैसे लगाना चाहिये ?

वर्नी—दो जानू बैठना भी श्रद्धा का चिह्न है। यजुर्वेद के अध्याय १६ मन्त्र ६२ "आच्या जानू" आता है, अर्थात् पितृ-लोक (पूर्वज, बड़े) जब समीप आवें या सन्तान (छोटे) उनके पास जावें तो भूमि में घुटने टिका कर उन्हें नमस्कार करके उन्हें प्रसन्न करें...........।

सब से अच्छा आसन ध्यान में सहायता देने वाला स्वस्तिक आसन या सुखासन है ।

हाथ

*(१) हाथों को घुटनों पर रखे। पहले अंगुली अंगूठे की जड़ में लगी हो, और हाथ की पीठ घुटनों पर हो, । पहली अंगुली ब्राह्मण अर्थात् विद्या की है। अंगूठा धर्म है, ब्राह्मण धर्म की शरण में रहे तभी उसको प्रभुप्राप्ति होती है और विद्या तथा धर्म दोनों मिले रहें, तो संसार में शान्ति रहती है। इन भावों से जब हाथ-हाथ की पीठ घुटनों पर होती है, तो उस स्थान का मेल होकर ओज पैदा होने में सहायता मिलती है।

* (२) सन्ध्या समय घुटनों पर हाथ रखने का लाभ यह

---

* इनका विस्तृत विधान लेखक की पुस्तक 'योग युक्ति' में दिया गया है। (अनुवादक)

* देखो फुटनोट पृष्ठ १२५

है कि यदि किसी को *संधि रोग हो, पूरे हाथ (हथेली) से गोडा ढांपले और अंगुलियों को नीचे रहने दे। हथेली में अग्नि होती है, उससे वह स्थान गरम होने पर दर्द को आराम रहता है।

※ (३) यदि सुख आसन लगे हुए पैर के टखने पर दोनों हाथों के पंजों को एक दूसरे से जोड़ कर ऐसा रक्खा जाय कि निचला भाग अर्थात् कनिष्ठिका अंगुलियां टखनों से ऊपर आ जांये तो दोनों हाथों की शक्ति प्रकाश तथा तम के नीचे के दोनों पैरों तथा टांगों के प्रकाश और तम से मिलकर एक ऐसी बिजली पैदा होती है, जिससे ध्यान टिकने में बड़ी सहायता मिलती है और विचारशक्ति बढ़ती है।

※ (४) यदि दांए हाथ की हथेली दाएँ घुटने पर, और बांये हाथ की हथेली पैर के टखने पर हो, तो ध्यान खूब टिकता है। यदि बाँए हाथ की हथेली बाँए घुटने पर, और दाएँ की टखने पर हो तो भी यही लाभ है।

आसन का फल

आसन का भी वही फल है, जो तप का है।

*इस आसन का लेखक का अपना अनुभव है।

※आसन नं० (१) ऋषि दयानन्द के चित्र से प्रकट है। (२) यह आसन मैंने एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा को बैठे देखा था। (३) कई योगियों को ऐसे अभ्यास में बैठे देखा है। (४) स्व० वृजानन्द जी महाराज के फोटो में ऐसा देखा है।

इन सबका लेखक ने अभ्यास करके भी देखा है।

'द्वन्द्वानभिघातः'

अर्थात् तप से शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों को जीतने की योग्यता प्राप्त होती है और आसन की सिद्धि से यह सरदी गरमी आदि द्वन्द्व सताने नहीं पाते।

सन्ध्या में जितनी क्रियायें करने योग्य थीं वे मैंने आपको बतला दीं, अब सन्ध्या मंत्रों के शब्द-शब्द के अर्थ सन्ध्या पुस्तकों में देख लें और वहाँ से याद कर लें। ऋषि दयानन्द महाराज कृत सन्ध्या अर्थ सहित अवश्य देखें। कईपूज्य महानुभावों ने बड़े परिश्रम और बड़ी खोज तथा भक्ति और श्रद्धा से पूर्ण इस सन्ध्या के मन्त्रों की आध्यात्मिक रूप में व्याख्या की है। वह एक से एक अपनी-अपनी जगह बढ़कर हैं, जहाँ उन्होंने मन्त्रोंके आध्यात्मिक तत्व बतलाते हैं, शब्दार्थ करने में बड़ी विशेष विद्वत्ता प्रकट की है* अतः आप में से जिसे भी आध्यात्मिक उन्नति की साध (शौक) हो, उसे वह अवश्यमेव पढ़नी चाहियें। मैं यदि आप को कुछ बतलाऊं भी, तो उनके ही लिखे अर्थ बता सकूंगा। फिर आपको उनमें वह रस तथा आनन्द भी न आयगा, जो स्वयम् उन पुस्तकों से वही पूर्ण शब्द पढ़कर आप प्राप्त सकेंगे। फिर जो व्याख्या जिस के मन को रुचे (यह अपनी अपनी प्रकृति पर

* उन में से कई एक के नाम यह हैं (२) "अथ ब्रह्मयज्ञः पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार कृत (२)" सन्ध्या सुमन" पं० नित्यानन्द जी वेदालंकार जी कृत, (३) "सन्ध्या रहस्य" पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार कृत (४) "सन्ध्या के तीन अंग" पं० मुक्तिराम जी आचार्य्य कृत (५) "संध्या उपासना"पं० सातवलेकर जी कृत ॥

निर्भर है) वही याद करके धारण कर लो।

ध्यान स्थान

भला महाराज! यह तो बतला दीजिये कि सन्ध्या के समय ध्यान कहाँ रखना चाहिये ?

वनी—सन्ध्या का तो मैं कह नहीं सकता कि कहां किस स्थान पर ध्यान रखना चाहिये। केवल इतना कह सकता हूँ कि आत्म-निरीक्षण और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर उपासना होती है। उनके यही स्थान हैं, जो चक्रों के हैं। अर्थात् नाभि, हृदय, कंठ, नासिका का अग्र भाग, त्रिकुटि आदि। साधारणतया तो सन्ध्या के शब्दों और अर्थों में ही ध्यान रखना चाहिये, इससे मन फिर अन्य कहीं नहीं जाता। प्राणायाम में भी इन्हीं चक्रों में ध्यान रक्खा जाता है।

'ॐ भूः'	'ॐ भुवः'	'ॐ स्वः'
सहस्त्रदल	आज्ञाचक्र	विशुद्धिचक्र
सिर ब्रह्मरन्ध्र	त्रिकुटि	कंठ
'ॐ महः'	'ॐ जनः'	'ॐ तपः'
अनाहत चक्र	स्वाधिष्ठान चक्र	मूलाधार चक्र
हृदय	नाभि स्थान	गुदास्थान

यह नाम प्रभु के भी हैं और शरीर में चक्रों के भी। चक्रों का जैसा नाम है वैसा ही गुण भी है। यह योग का विषय है। प्राणायाम के लाभ इत्यादि भी उधर ही समझने चाहियें।

युवक—फिर भी किसी चीज में ध्यान तो टिकाना हीं पड़ा। इससे मूर्तिवाली बात तो पंडित जी की सिद्ध हो गई।

बनी—बेटा ! यही भूल है। वे लोग मूर्ति को मन टिकाने का साधन नहीं बनाते, कहते अवश्य हैं। वे तो मूर्ति को परमेश्वर मान कर पूजते हैं। धूप दीप जलाते हैं, आरती उतारते हैं, मस्तक टेकते हैं, हाथ जोड़ते हैं, प्रार्थना करते हैं, मुरादें मांगते हैं और रो भी पड़ते हैं।

युवक—यदि कोई परमेश्वर न मान कर और मूर्ति को मूर्ति मानकर ही उस में ध्यान के लिये मन टिकावे, तो ?

बनी—फिर भी ठीक नहीं। मूर्ति पर ध्यान जमाने से दृष्टि बाहर रहगी, आन्तरिक शक्ति नहीं बढ़ेगी। मूर्ति दूरी (फ़ासले) पर है, अतः ध्यान भी दूरी (फ़ासले) का ही किया जा सकेगा।

अब तुम नियम समझो। इन स्थानों पर ध्यान इस लिये टिकाया जाता है कि वहां सारे प्राण केन्द्रित कर दिये जायं। जहां प्राण जाता है वहां मन ही जाता है, और जहाँ मन जाता है वहां ही इन्द्रियां भी जाती हैं। समस्त शरार की शक्तियों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देने से प्राण में वेग होता है आर इससे वे चक्र खुल जाते हैं और प्रभु की विचित्र लीला के रहस्य गुप्त रूपसे ज्ञात हाने लगते हैं, जिस से प्रभु की अद्‌भुत माया का भान होकर अगाध श्रद्धा और प्रेम भी बढ़ते जाते हैं तथा अन्तः करण भी शुद्ध और विशाल होता जाता है, परन्तु प्रभु के दर्शन नहीं होते।

तुम देखो ! जब बच्चा उदास हो और तुम उसे हंसाना चाहो तो उसकी बग़ल में गुद गुदी करते हो। किसी और जगह क्यों नहीं करते ? इसलिये कि यह विशेष स्थान है, वैसे ही काम

हर कोई अपने बच्चे या किसी प्रियजन के मुख को ही चूमता है। अश्लील-प्रकृति पुरुषों को कामोत्तेजक (इश्किया) राग सुनने मात्र से ही उत्तेजना हो जाती है। ऐसे ही इन स्थानों पर प्राण का संचार करने से भक्ति तथा ज्ञान की तरंगें उत्पन्न होती हैं। जब कोई नाभि पर ध्यान करता है, तो वह स्पष्ट कहता है कि मैं नाभि पर ध्यान रखता हूँ, ईश्वर पर नहीं।

प्राणायाम क्यों किया जाता है ?

संक्षिप्त शब्दों में इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य अन्दर और बाहर से घिरा हुआ है। बाहर तो विषयों से और अन्दर वासनाओं से। वह दोनों ओर से तंग है। जब प्राणायाम करता है तो दोनों मार्ग तत्काल रुक जाते हैं। जितने भी शुभ अशुभ विचार हैं, वे आकाश से (जो समस्त प्राणियों की भावनाओं को एकत्रित रखता है) वायु द्वारा फैलते हैं, और प्राणों द्वारा मनुष्य की इच्छा न होते हुए भी, उसके अंदर प्रवेश करते हैं और अंदर की तारों को छूते हैं, अर्थात् शुभ विचार शुभ मनुष्य में और अशुभ विचार अशुभ मनुष्य में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वे हमारे अन्दर अच्छी और बुरी वृत्तियां वासनाओं के रूप में जागृत हो जाती हैं। प्राणायाम करने वाले मनुष्य प्राणायाम के समय तो अन्दर तथा बाहर दोनों को रोक लेते हैं, किन्तु अधिक अभ्यास से जब प्राणायाम सिद्ध हो जाता है, तो वे इन नासिका में बैठे हुए ऋषि कश्यप और वसिष्ठ, जिन विचारों को टिकाना होता है, उन्हें अन्दर आने देते हैं और दूसरों को बाहर ही रोक लेते है, इससे जीवन पवित्र रहता है। अब निर्भर है साधक की

अपनी इच्छा पर, भावना पर। चाहे वह व्यायाम के लिये करे जिससे शरीर शुद्ध रहे, चाहे अन्तः करण के लिये, कि मन शुद्ध हो जाय। यह उसकी अपनी लगन या इच्छा है।

सातवीं सीढ़ी

अघमर्षण मन्त्र

भावना वृत्ति

बाबू—महाराज ! अब तनिक अघमर्षण मन्त्र का भाव भी समझा दीजिये !

वनी—"*अघ*" के अर्थ हैं पाप "*मर्षण*" के अर्थ हैं 'सहन करना' 'दूर करना' 'प्रक्षालन' 'धो डालना' !

बाबू—तो क्या इस मन्त्र से मनुष्य के पाप धुल जाते हैं ?

वनी–हां ! जब मनुष्य पिछले मन्त्रों के अनुसार आत्म-निरीक्षण करता है और अपने पाप और दोष उसके सामने आते जाते हैं, तो वह उनके लिये पश्चाताप प्रायश्चित करता है। उन मंत्रों से तो जल लेकर धारणा की थी, अब इस मंत्र से कार्यरूप में आंसुओं के जल से अन्तःकरण की मैल धोई जाती है। जो मनुष्य अपने पाप को अनुभव करता है, उसके दंड से डरता है, पर उसके लिये पश्चाताप करता है कि 'ओहो ! मैंने क्या किया ? जब उसकी आत्मा सच्चे हृदय से तड़प कर और व्याकुल होकर रोती है, तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। आगे के लिये पाप करता ही नहीं। किन्तु ऐसे भी कई पाप हैं, जिनका संस्कार यदि रह गया, तो उनका दंड अवश्य भुगतना पड़ता है, यह पश्चाताप और प्रायश्चित उस संस्कार को मिटा डालने के लिये होता है। यदि यह संस्कार न मिटा तो अवश्य दंड मिलेगा। जैसे

एक मनुष्य ने रिश्वत ली, या छल से किसी को लूटा और वह माल उसके घर में है, या उसने अपने पुत्रों को दे दिया है, और आप विरक्त हो गया है। अब उन पापों का उसे पश्चाताप होता है और वह जोर जोर से रोता है, तो उसका यह रोना व्यर्थ है। चाहे वह आगे के लिये ऐसा कर्म न करे, फिर भी वह धन उसके पास है। वह उसे लौटाना नहीं चाहता। केवल रोने-धोने से कुछ न बनेगा। हां, यदि वह चुराया या अनुचित रूप से कमाया हुआ माल मालिक को लौटा दे और फिर सच्चे हृदय से उस पाप के लिये रोवे, तो उसका संस्कार नहीं रहेगा।

पाप छिपाने से बढ़ता है और प्रकट कर देने से घटता है। जो लोग एकान्त में तो प्रभु के सामने अपने पाप प्रकट करके रोते हैं, परन्तु उन्हें लोगों के सामने प्रकट करने से लजाते हैं, तो समझो कि अभी उनमें अभिमान है। जो लोगों से छिपाता है और अपने आपको पापी नहीं मानता, धर्मात्मा प्रकट करता है, उसका पाप नहीं धुला और संस्कार रह गया है। जैसे एक आदमी ने व्यभिचार किया और अब वह उसे त्याग करके रोता है। यदि स्वप्न में भी उसे व्यभिचार का ध्यान नहीं आता, तो भी उसके किये हुए कुकर्म का दंड तो उसे अवश्यमेव मिलेगा, परन्तु वह पहाड़ जैसा दुःख भी उसे राई के समान दिखाई देगा, और फिर नया पाप भी न होगा। दंड का प्रयोजन ही सुधार है, जब मनुष्य का अन्तःकरण सुधर गया तो जो दंड या दुःख उसे आगे मिलना था अब स्वयमेव उसने उस दंड को अपने ऊपर ले लिया।

दुःख आने पर मनुष्य घबराता है, रोता है, चिल्लाता है, बेहाल हो जाता है, अब भी यदि वह उसे अनुभव करके धाड़ें

मार-मार कर रोता है, घबराता है, बेहाल हो जाता है, तो मानो वही दंड उसने अपने आप ही पा लिया।

"*मर्षण*" का अर्थ है 'सहन करना'। वह मनुष्य जो प्रभु का भक्त बन जाता है, इस मन्त्र द्वारा उस प्रभु की शक्ति का अनुभव करने लग जाता है जिससे उसका अभिमान टूट जाता है। जब अभिमानी मनुष्य यह जान जाय कि 'ओहो ! वह प्रभु तो एक क्षण के अन्दर क्वेटे में भूचाल लाकर न हिलने वाले पर्वतों को अणु-अणु कर देता है, और बहते हुए दरियाओं को थल कर देता है, वह मुझ से सहस्रों गुणा अधिक साहुकारों और कोठी वालों को कंगाल कर सकता है। कैसर जर्मनी जैसे बादशाहों को सिर छिपाने का स्थान ढूंढने के लिये विवश कर देता है और पल में राजा को रंक बना देता है, तो तुरन्त मनुष्य का अभिमान टूट कर चकना-चूर हो जाता है। उसका मस्तक श्रद्धा से प्रभु-चरणों में झुक जाता है, हृदय नम्र हो जाता है और वह प्रभु की शक्ति से भयभीत हो जाता है।★

जो लोग अपने आप को बड़े दीनहीन, अति असमर्थ और भयभीत जानते हैं, जो समझते हैं कि हम महा पापी हैं, हमारा क्या बनेगा ? हम कभी नहीं उठ सकते, वह भी इस मंत्र को पढ़कर और इस पर विचार करके यह ढारस पा जाते हैं कि वह प्रभु तो पल में रंक को राजा बना देता है। निज़ाम माशकी (भिश्ती) एक उपकार से ही राजा बन कर चाम के दाम चलाता

★ इसके उदाहरणार्थ देखो पुस्तक "डरो ! वह बड़ा जबरदस्त है।"(अनुवादक)

है । नादिर चरवाहा था, उसे बादशाह बना देता है । अमरीका में एक मनुष्य जूते गांठता था उसे वहां का प्रधान (मुख्याधिपति) बना देता है , जो प्रभु अपनी दया की वर्षा से उजाड़ को बस्ती बना देता है, एक से अनेक कर देता है, सूरदास जैसे पापी को, वाल्मीकि जैसे डाकू को भक्त और ऋषि मुनि बना देता है, तो मैं साहस क्यों हारूं ? वह तो पतित पावन है । रात के पीछे दिन लाता है, अमावस्या की घोर काली रात से पूर्णमाशी का सुन्दर चन्द्रमा उदय कर दिखाता है । भगवान् कृष्ण ने गीता १८-६६ में क्या ही सुन्दर ढारस देने वाले वचन कहे हैं ?

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज !
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

अर्थात् सब धर्मों के झगड़ों को छोड़ कर एक मेरी शरण पकड़ । शोक मत कर । मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा ।

यह दैवी घोषणा पतित को उठाने के लिये कैसा बड़ा हथियार है ?

बड़े से बड़े विद्वान् चकित रह जाते हैं, जब वे नन्हे से बीज से उगे हुए एक विशाल वृक्ष को देखते हैं, जो ५० से १०० फ़ीट तक ऊंचा चला जाता है और ५० फ़ीट तक नीचे धरती में जड़ें फैलाए हुए है, सैंकड़ों शाखायें, हज़ारों पत्ते,हज़ारों फल और फिर एक एक फल में सैंकड़ों बीज हैं । उस वृक्ष के तने मटियाले, पत्ते हरे, कोंपल गुलाबी, फल लाल, दाने (बीज) पीले दिखाई देते हैं और पत्ते किस प्रकार एक ही सांचे में ढले हुए हैं । फिर जल, जिसका गुण यह है कि वह नीचे बहता है, ऊपर नहीं,उससे सारे

वृत्त के, जिसकी मोटाई प्राय: २० फ़ीट है, पत्ते-पत्ते, डाल-डाल, तने-तने, सब जल दार बने हुए हैं। इतने नीचे पृथ्वी से प्रभु वृत्त के रोम रोम में जल कैसे सिंचन करते हैं ? वह सूर्य देव जिसकी किरणें केवल धरती तक पड़ती दिखाई देती हैं, वह धरती की तह में घुस कर जल को किस प्रकार वृत्त के रोम-रोम में पहुँचाती हैं ?

किसान जिस दाने को बोता है, वह दाना धरती में जा कर एक सैकण्ड में सहस्रों चक्कर काटता है। किसी वैज्ञानिक किसान को भी यह पता नहीं, कि उस बीज का कौन सा भाग ऊपर फल बनाता है, और कौन-सा नीचे जड़ें? प्रकृति के इस रहस्य को देख कर बड़े से बड़ा विज्ञानी (साइन्स जानने वाला) भी सिर झुका देता है।

वह प्रभु पल में समस्त सृष्टि को प्रलय कर देता है और पल में फिर सृष्टि को वैसे का वैसा ही बना देता है। यह है भाव अघमर्षण मन्त्र का।

हमें अपने किये दुराचार के परिणाम का बुरा फल भोगने को सदैव उद्यत और अपना सुधार करने पर सदैव तुला रहना चाहिये। यही सच्चा प्रायश्चित है और यही चित्त शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है।

व्यक्ति तथा जनता में कौन-कौन से गुण और कौन-कौन से दोष होते हैं, इसका विचार मन के द्वारा सूक्ष्मतया परिभ्रमण करने से ही हो सकता है। (मूढ़ से मूढ़ मनुष्य भी यदि अपना भला चाहे और ऐसे उसे कुछ समझ न आये तो हस्पतालों में व्याकुल रोगियों को देख कर ही शिक्षा ले ले)

'गरमी की ऋतु है। दिन भर लू चलती हैं। संध्या हुई कि तत्काल हवा बन्द हो गई। चारों ओर नानाप्रकार के वृक्ष हैं— आम, पीपल, बड़, कीकर, खजूर, शीशम, परन्तु मजाल नहीं कि किसी पर कहीं एक पत्ता भी हिलता दिखाई दे जावे। सैंकड़ों कोसों तक सब वृक्ष चुपचाप खड़े हैं और लोग 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कर रहे हैं। बतलाओ! इन जड़ वृक्षों को कौन यह आज्ञा देता है? कैसे सब एकदम हिलने बंद हो जाते हैं?

बाबू—तो क्या मनुष्य का मन इन मन्त्रों के जप और अर्थ विचार से शीघ्र ही पवित्र हो जाता होगा?

वनी—भाई! यह तो कैसे कहा जा सके? इस मन पर तो जन्म जन्मान्तर की मैल चढ़ी हुई है। संसार के प्रलोभनों से भी घिरा हुआ है। पूर्व कर्मों के पूर्व संस्कार भी प्रबल हैं। मन का अपना वेग भी कुछ कम नहीं। इन्द्रियां भी अपना-अपना ज़ोर रखती हैं। अतः मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप की ओर घिसटा चला जाता है। गीता में अर्जुन ने भी भगवान् से यही प्रश्न किया था। देखो अध्याय २, श्लोक ३६ :—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् न जाने वह कौन सी शक्ति है, जिस से कि मनुष्य न चाहता हुआ भी विवश हो कर पाप में प्रवृत्त किया जाता है।

जन्म जन्मान्तर की तपस्या करने से और अति लगन लगाने से

मैल धुल जाती है। देखो ! जितनी गरमी अधिक हो, शरीर से मल (पसीना) अधिक निकलता है। जब शरद् ऋतु हो तो पसीना निकलता ही नहीं। ऐसे ही जो मनुष्य बहुत तप करता है, उसके अंदर की मैल निकल जाती है। जितने भी महापुरुष और पुनीत आत्मायें आपको दिखाई दे रही हैं, उनके जन्म जन्मान्तर की तपस्या का फल है। रुमाल को तो हम सवेरे का शाम को और शाम का सवेरे को धो डालते हैं, कोई कष्ट नहीं होता। केवल पानी से पर-खाल लेते हैं। किन्तु चोला (कुरता) मैला हो जाय, जिसे चार दिन से न धोया हो, वह तो फिर मुक्के खाता है और कितनी देर लगती है, जब साफ़ होता है, और जो खद्दर की मोटी चादर एक सप्ताह न धोई जावे, उसे तो फिर सोटे की मार तले आना ही पड़ता है। तब कहीं मैल धुलती है और वह खेस जिसे दो चार मास में धोया जाय, वह तो बिना धोबी के खुम्ब की अग्नि में पड़े, और फाले (पटड़े) पर, बार बार लगातार, धोबी की मार (छांट) खाये इतनी जलदी साफ कैसे हो जायगा ? जब कपड़े की यह दशा है तो मनुष्य रूपी कपड़े (अन्तः करण) पर जो जन्म जन्मान्तर की मैल चढ़ी है, वह भी प्रभु (धोबी) की शरण पड़े बिना और घोर तप किये बिना कैसे जायगी।

बार बार विषय सामने आएँगे। उनके विपरीत चलना पड़ेगा। मन को वश में रखना और इन्द्रियों को दमन करना पड़ेगा। विषय को, पाप को, और वासना को भगाना पड़ेगा। इसी लिये तो यह 'प्रत्याहार' का काम देता है।

भीमसेन—महाराज ! आपने कहा है कि 'विषय बार बार

सामने आवेंगे, उनके विपरीत चलना पड़ेगा। इसके लिये हम मन को कैसे समझायें? वह आई हुई पाप वृत्ति कैसे दूर भागे?

वनी—पाप-वृत्ति ऐसे सामने आया करती है, जैसे चोर डाकू संभल-संभल कर आता है। यदि घर वाला सावधान न हो और बल न रखता हो, तो लूटा और पीटा जाता है। किन्तु यदि घर वाला तुरन्त अपना बल दिखलाये, तो चोर डाकू दुर्बल हो जाते हैं और घर वाले के बल की तुलना कर लेते हैं। यदि उसे अपने से अधिक चैतन्य पाते हैं तो तुरन्त भाग जाते हैं, नहीं तो सामने डटे रहते हैं। नितान्त यही दशा साधक के साथ पाप-वृत्ति के सामने हुआ करती है। अतः जब पाप-वृत्ति सामने आये तो साधक चौकस होकर कड़क कर बोले—

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।

परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥

ऋ० मं० १० सू० १६४ मं० १

अर्थात् हे (मनसस्पते) मन को पतित करने वाले कुविचारो (अपेहि) दूर हो जाओ! (अपक्राम) दूर भागो! (परःचर) परे चले जाओ! (परः निर्ऋत्या) दूर के विनाश को (आचक्ष्व) देखो! (जीवतः मनः) जीवित मनुष्य का मन (बहुधा) बहुत सामर्थ्य से युक्त है। या यह मन्त्र बोल कर अपनी पाप वृत्ति को हटावे:—

परोपेहि मनस्पाप, किमशस्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये, वृक्षां वनानि संचर,

गृहेषु गोषु मे मनः॥ अथर्व का० ६ सू० ४५ मंत्र १॥

अर्थात् हे (मनःपाप) मन के पाप ! (परः) दूर (अपेहि) हटजा ! (किं) क्या तू (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) बनाता है ? (पराइहि) हटजा ! (न त्वाकामये) मैं तुमको नहीं चाहता ! (वृक्षां वनानि) वनों में वृक्षों में (संचर) फिरता रह। (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु गोषु) घर में और गौ आदि पशुओं की पालना में है। (देखो वेदामृत पृष्ठ ३८)

भीमसेन—पहले मन्त्र में जो मन से ऐसा कहे कि "दूर के विनाश को देखो" इसका आशय क्या है ?

वनी—बेटा ! उस बुरे विचार से भविष्य में होने वाली जो हानि होगी उसका विचार करके यह कहे।

कई सज्जन—महाराज ! यह तो हमारी समझ में नहीं आया। ऐसा विचार कैसे किया जावे ?

वनी—भाईयो ! तुम्हारी समझ में यह इसलिए नहीं आ रहा है कि तुमने अभी कोई साधना नहीं की। जब मनुष्य इस आध्यात्मिक विद्या का विद्यार्थी बनता है, तो वह साधनायें करता है। उन साधनाओं और तप के प्रताप से उसके शीशे साफ होने लगते हैं। इन शीशों से वह देखता है। यह शीशे दो हैं। एक बुद्धि का, दूसरा मन का। बुद्धि का शीशा तो दूरबीन है (दूर की चीज़ को देखने वाला) और मन का शीशा खुर्दबीन (छोटी-से-छोटी चीज़ को देखने वाला)। अतः साधक जब प्रत्येक कार्य्य को इन शीशों से देखता है, तो उसे एक छोटे से छोटा पाप भी मन रूपी लघुदर्शी यन्त्र से बड़ा भारी दिखाई देने लगता है। उस पाप की गति और बढ़ाओ का अनुमान वह उसकी हलचल से लगाता है। फिर जब दूरदर्शी यन्त्र लगाकर उसे देखता है, तो

उसका भयंकर रूप उसके सामने आ जाता है और वह सोचता है कि

(१) इस पाप का बदला पाने के लिए एक तो मुझे जन्म अवश्य लेना पड़ेगा।

(२) इस पाप के कुसंस्कार से दूसरे जन्म में भी मुझे वैसा ही पाप फिर घेरेगा।

(३) फिर प्रकटतः उस पाप के कारण से दंडित हो जाऊंगा और मेरा जीवन कष्ट में फंस जायगा।

(४) मेरे माता पिता यदि धनाढ्य हुए, सम्मानित हुए तो उनके धन माल का सर्वनाश होगा। उनकी बड़ी बदनामी होगी और मेरे माथे पर कलंक का टीका रहेगा।

(५) यदि मेरी आयु थोड़ी हुई, माता पिता को, उनके सामने ही मेरे भरी जवानी में मरने का दुःख अति दुःख-दाई होगा।

(६) यदि मेरा जीवन उस जन्म में और भी भ्रष्ट तथा पतित हो गया तो फिर मुझे अनेक जन्म लेने पड़ेंगे।

(७) यदि मेरे जन्म का वायु मंडल अच्छा हुआ और मेरी आयु कम हुई, तो मुझे यह खेद रहेगा कि मैं कुछ कमाई नहीं कर सका।

इस प्रकार जो साधक विचार पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है, तो उपासना के स्वच्छ किये हुए यह मनरूपी ✻ लघु-दर्शी-यंत्र और ज्ञान से पवित्र किए हुए बुद्धिरूपी '*दूरदर्शी यंत्र' के प्रयोग से वह पाप से दूर और पुण्य के समीप रह कर अपने

✻इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखो लेखक की रचित उर्दू-पुस्तक 'विचार विचित्र' में 'कर्म उपासना तथा ज्ञान का फल'॥

जीवन-पथ पर चलता जाता है और उन्नत होता जाता है।

इस (अघमर्षण) मन्त्र में सब से प्रथम तो यह बात दर्शाई गई है कि:—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धात्तपसोध्य जायत'

अर्थात् 'ऋत' तथा 'सत्य' प्रभु के 'तप' से प्रकट हुए, अतः ज्ञान और सत्य की प्राप्ति तप के बिना नहीं होगी। तप से जब अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, तो उसमें ज्ञान तथा सत्य की झलक आने लगती है।

देवी—'शन्नोदेवी' और 'गायत्री मंत्र' फिर क्यों इस मन्त्र के उपरान्त बोलने की आवश्यकता प्रतीत होती है?

वनी—जब मनुष्य अपने पापों को याद करता है और उसे अपना जीवन, अपनी आयु, अकारथ गई दिखाई देती है, तो वह धाड़ें मार मार कर रो पड़ता है। उसे बड़ा पश्चाताप होता है, (रोने से ही पापों का मर्षण=प्रक्षालन=धोना होता है) इस रोने से कंठ रुद्ध हो जाता है, उसके नाक तथा मुख से मैल निकलने लगती है, तब आगे विचार करने, अपने आप को पवित्र और शांत करने के लिये आचमन की आवश्यकता पड़ती है, जिससे कंठ खुल जावे और चित्त शांत हो जावे। गायत्री द्वारा बुद्धि की पवित्रता और निर्मलता की प्रार्थना तथा प्रायश्चित भी हो जाता है।

ऋषि दयानन्दजी महाराज ने 'पंच महायज्ञ विधि' में लिखा है "कि मन में गायत्री आदि मंत्रों के अर्थ विचार पूर्वक परमेश्वर की

स्तुति अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर,पश्चात् प्रार्थना करें अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहें और सदा पश्चाताप करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे ही हम लोग भी सबका उपकार करें, इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करें जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें।"

दिशा का सम्बन्ध सन्ध्या से

बाबू—एक प्रश्न और भी रह गया, वह यह कि क्या सन्ध्या में दिशा का भी कोई विचार रखना चाहिये,और आसन यदि किसी पशु चर्म का हो तो चमड़ा होने के कारण वह वर्जित तो नहीं ?

वनी—मनुष्य का लक्ष्य है—

असतो मा सद् गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्माऽमृतम् गमयेति !!!

अर्थात् असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर जाने का है। तो प्रकाश को सामने लक्ष्य करना चाहिए। सूर्य्य स्वयम् प्रकाशमान् है अत: जिधर जिस समय सूर्य्य हो, उसी ओर सूर्य्य सन्मुख बैठना चाहिये, या ध्रुव उत्तर में है, वह भी प्रकाश की दिशा मानी जाती है।

आसन किस चीज़ का हो

आसन ऐसा होना चाहिये, जो मनुष्य को देर तक आसानी से बैठने में सहायता दे और रोग पैदा न करे, रोग नाशक हो।

तृण-मय आसन सब प्रकार की प्रकृति वालों के लिये बहुत लाभ कारी है। रुई का गद्दा कफ़ प्रकृति वालों के लिये।

२—पशुओं में जो पालतू पशु हैं, उनका चर्म्म नहीं होना चाहिये और जंगली पशुओं में चीते और हिरन की खाल अच्छी समझी जाती है। हिरन कई प्रकार के हैं—लाल, गोरे, काले और चितकबरे आदि। काले हिरन की खाल बवासीर के लिये उपयोगी है, लाल और गोरे मृग की रक्त रोग के लिये, और चितकबरे मृग की समभाव (मोतदिल, न गरम न ठंडी) है। कई पशु चन्द्रमा के गुण वाले हैं। कई सूर्य्य के गुण वाले। कई ऋतुओं के गुण वाले। यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में इन सब का वर्णन मिलता है।

चीते का चर्म्म बहुत गुणकारी है। यह हृदय को पुष्ट करता है और सुखदायक भी है। कई चर्म्म ऐसे भी हैं, जिन पर सांप नहीं चढ़ सकता, या वहां आता ही नहीं, जहां ऐसा आसन पड़ा हो।

ॐ

आठवीं सीढ़ी

मनसा परिक्रमा

सर्वरक्षक पिता

[पंच ग्रन्थी]

भीमसेन—महाराज ! हम पुस्तकें तो जो आपने कही हैं, सब पढ़ेंगे ही, फिर भी मनसा परिक्रमा के सम्बन्ध में तो कुछ समझा दें।

वनी—बेटा ! सन्ध्या के मन्त्रों में 'मनसा परिक्रमा' के मन्त्र बहुत कठिन हैं। तुम सब उपर्युक्त पुस्तकों को, या अन्य भी जो इस विषय की पुस्तकें बनी हैं, पढ़ोगे, तो इन मन्त्रों की व्याख्या सबकी अपनी अपनी ही मिलेगी। एक से दूसरी नहीं मिलेगी। मैं क्या समझाऊं ? मुझे तो यह बात अभी आप ही समझने वाली है कि मन के द्वारा कैसे परिक्रमा होती है ? 'मनसा का अर्थ है ज्ञान, अर्थात् ज्ञान द्वारा परिक्रमा करनी।'

अब इन मन्त्रों द्वारा अज्ञान अन्धकार का नाश होना आरंभ होगा और ज्यों ज्यों इस परिक्रमा की दशा बदलेगी, त्यों त्यों प्रकाश होगा। मन को एकाग्र करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। पहले मन्त्रों में कर्म से पवित्रता प्राप्त की गई है। अब ज्ञान से मन प्रकाशित होगा। किन्तु जो मनुष्य मन को ही पहले नहीं जानता, वह बेचारा परिक्रमा क्या करायेगा ? दूसरे जो साधक मन को जानने लग जाय, नियम पूर्वक आत्मनिरीक्षण,

पश्चाताप आदि करता हो और अपने पापों तथा दोषों को दूर करने का यत्न भी करता हो, सांसारिक कामों से अधिक नहीं, बराबर का भी नहीं तो कुछ न कुछ समय तो अवश्य जान कर प्रभु भक्ति में तथा अपने आत्म सुधार के लिए भी देता हो, तो वह यह अभिलाषा करता है कि हे प्रभो! मुझे ज्ञान का प्रकाश मिले। परन्तु उसका अपना ही समय समय पर उत्पन्न की हुई वासनाओं का जाल उसके मनोरथ को सफल नहीं होने देता। इन वासनाओं के ही प्रभाव से, उसका मन बार बार सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता है, अतः फिर मन उखड़ जाता है और क्षण में इधर से उधर हो जाता है। यह वासनाएं मन की दशा ऐसी अशान्त कर देती हैं कि आसन नहीं टिकता और आँख भी उकता जाती है। मनुष्य के अन्दर इतनी वासनायें हैं कि गिनी ही नहीं जातीं।

भीमसेन—महाराज! आप विषय, पाप, राग, द्वेष आदि का वर्णन तो पीछे कर चुके हैं यह वासनायें क्या कुछ और होती हैं?

वनी—अहा! तुम्हें वासना का भी अभी ज्ञान नहीं। धन्य हो, तुम तो बड़े सरल स्वभाव हो। बेटा! वासना बीज है और राग, द्वेष जड़ें हैं। सत्, रज, तम तने हैं और पांच उस तने की शाखायें हैं काम, क्रोध लोभ, मोह और अहंकार। फिर एक एक शाखा में बीसियों उप-शाखायें, सहस्रों पत्ते, सैंकड़ों फल हैं। फिर एक एक फल में सैंकड़ों बीज हैं। अब यदि कोई यह चाहे कि बीज का नाश कर दूँ। वह तो हो नहीं सकता। बीज तो जड़ों में बदल गया। यदि कोई जड़ें काट दे, तो वृक्ष शाखाओं, पत्तों,

फलों, आदि सहित सूख कर गिर जायगा। किन्तु जब तक जड़ें विद्यमान हैं, वह पत्तों को झाड़ता रहे, कच्चे ही फलों को तोड़ता रहे, शाखाओं को काटता रहे, वह तो फिर फिर उग आयेंगी। इसीलिये तो तपस्या करते हुए साधकों को कई वर्ष शांति से बीत जाते हैं, किन्तु फिर वह पाप का संस्कार जाग कर उनको गिरा देता है।

इस का कारण यही है कि निस्संदेह उन्होंने पापों का तो त्याग कर दिया, विषय विकार भी छोड़ दिये, शुभ-कर्मों में भी प्रवृत्त हो गये, परन्तु जड़ें अभी दबी पड़ी थीं, जब उन्होंने धीरे-धीरे पुष्टि पाई, तब फिर शाखाओं और पत्तों आदि के रूप में सामने आ गई। अतः इन मन्त्रों में उस जड़ अर्थात् द्वेष के दूर करने का उपदेश है। यह नहीं कि उस द्वेष को हम दूर नहीं कर सकते हैं। इच्छा और द्वेष तो मन के गुण हैं। द्वेष क्यों पैदा होता है? काम के कारण, क्रोध से, लोभ वश, मोहवश और अहंकार से।

अतः इन्हें दूर करना महा कठिन है। साधक प्रभु की शरण लेता है। अपने द्वेष का, बदला लेने के अभिमानी भावों को प्रभु के समर्पण कर देता है कि वह इस द्वेष को प्रेम में बदल दें। जो हम से द्वेष करता है, या जिस से हम द्वेष करते हैं, उस द्वेष के विष को मथना पड़ता है। तब कहीं उससे अमृत प्रेम निकलता है। बड़ी घोर तपस्या का काम है। एक वर्ष नहीं, दो वर्ष नहीं, जन्म जन्मान्तर लग जाते हैं और फिर भी सब पापों का त्याग एक दम नहीं होता।

हां! यह तो हो सकता है कि एक मनुष्य हुक्का पीता है, शराब पीता है, मांस खाता है, रिश्वत लेता है और भी पाप

करता है। वह सब एक दम त्याग दे।

सेनाओं को बड़ी संख्या में मार देना तो सम्भव है, परन्तु उनके मार डालने से भी रण-भूमि में विजय प्राप्त नहीं होती। हां! यदि उनके सेनापति बस में आ जायें, उन्हें नज़र-बन्द कर लिया जाय, तो सेना के मारने की भी आवश्यकता नहीं रहती, वह सब अपने आप ही बस में आ जाती हैं।

पिछले मन्त्रों में तो इन इन्द्रियों के पापों की पड़ताल थी, उन्हें दूर करने का प्रयत्न था। परन्तु मन तो सूक्ष्म इन्द्रिय है अतः सूक्ष्म पाप की जड़ों—राग द्वेष को सम्भालना है। उसके यह पाँच सरदार–सेनापति हैं। एक एक का एक मन्त्र है और छठा फिर इन सब को अपने बस में करके, इन सबका स्वामी (मालिक) बन जाने का मन्त्र है। एक एक मन्त्र में एक एक सेनापति को प्रभु की सहायता से बस में करना है। उस उस दिशा के प्रभु का नाम जुदा जुदा है। जैसे गीता में भगवान् कृष्ण को कहीं मधुसूदन, कहीं हृषीकेश, कहीं केशव, कहीं जनार्दन, कहीं मोहन, कहीं कृष्ण, जैसा जैसा प्रकरण था, वैसे ही नाम से पुकारा गया है। ऐसे ही यहाँ इन दिशाओं के अधिपति प्रभु को दिखाया गया है।

पंच ग्रंथी

प्रत्येक मनुष्य एक रस्से से बंधा हुआ है, जिसमें पांच गांठें लगी हैं। मनुष्य तो इन गांठों को इस लिये नहीं खोल सकता कि वह स्वयम् बंधा हुआ है। इसे वही खोलेगा, वही स्वतन्त्र करेगा, जो स्वयं स्वतन्त्र है, मुक्त है।

प्राची दिक् प्रथम ग्रंथी-मोह बन्धन

उन्नति की ओर मुख—साधक चाहता है कि मैं आगे (पूर्व) बढ़ूं, उन्नति करूँ, यह है पहली अवस्था। इसका वैदिक परिभाषा में नाम रक्खा गया है, 'प्राचीदिक्-उन्नति की दिशा'। अब बन्धन की पहली गांठ क्या है? मोह! मोह ने ही इसके ज्ञाननेत्र—बुद्धि—पर परदा डाला हुआ है और मन इससे बंधा हुआ है।

चूंकि मुक्ति बिना ज्ञान के नहीं हो सकती और मनुष्य का बढ़ना भी बिना ज्ञान के नहीं हो सकता, अतः आवश्यक रूप से मनुष्य की प्रथम इच्छा ज्ञान-प्राप्ति के लिये ही होती है, और यही ज्ञान, अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर सकता है।

वैदिक परिभाषा में ज्ञान को अग्नि कहते हैं। चूँकि प्रभु ही बन्धन रहित और मुक्त हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं, अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिये उनकी ही शरण लेनी चाहिये।

"*असितो रक्षिता*" के अर्थ हैं,बन्धन रहित, रक्षा करने वाला, इसके दूसरे अर्थ हैं अंधकार, कलंक, पापमय, जो मनुष्य की पहली अवस्था है, अतः यह शब्द दोनों ही काम देता है।

मोह का स्वरूप

जितने भी बन्धन हैं, जितनी भी परतन्त्रता, दासता,गुलामी शोक, भय आदि हैं, वह सभी मोह के कारण है। मोह किसी एक पदार्थ का ही नहीं होता। पुत्र, स्त्री, परिवार, अपने शरीर, धन सम्पत्ति, महल, माड़ी का भी मोह होता है। सारांश, जड़ चैतन्य दोनों का ही मोह होता है।

केकयी बड़ी धर्मात्मा थी। राम को भरत से अधिक प्रिय

जानती थी, किन्तु मन्थरा के रूप दिखाने पर, भरत का मोह आ ही गया, और राम जैसे पुत्र को वनवास दिला दिया। धृतराष्ट्र बड़ा धर्मात्मा, ईमानदार और भतीजों का रक्षक रहा, किन्तु जब पुत्रों का मोह आया तो अन्याय पर कमर बांध ली।

अतः मोह की अवस्था है तम की। तम से ही सब पाप होते हैं और यही बन्धन तथा कलंक है।

यह बन्धन कैसे कटे ?

चिरकाल तक इसका अभ्यास करते रहने तथा ऐसे आदित्य पुरुषों की सहायता और सत्संग से, जिन्हें अपने शरीर तक का भी मोह नहीं रहा, जिन्हें बदला लेने की जगह शत्रु को बचाने की चिन्ता रहती है, उनके ही कृपा-कटाक्ष, उपदेशों और शिक्षा से जब मनुष्य धीरे-धीरे परिमित मोह को अपने परिवार की सीमा से निकल कर जाति, देश, संसार और विश्व-कुटुम्ब में फैला देता है, तो वह प्रेम बन जाता है और उसका सब दोष मिट जाता है। (ऋषि दयानन्द आदित्य थे। उनके जीवन से निर्मोह होने और संसार से प्रेम बढ़ाने की शिक्षा हमें प्राप्त होती है)।

दक्षिणा दिक् दूसरी ग्रन्थी–लोभ बन्धन

साधक का पग उन्नति के सीधे मार्ग पर—अब इस मन की दूसरी अवस्था है तम तथा रज की। तम थोड़ा और रज अधिक। यह बन्धन है लोभ का। मोह तो होता है जड़ और चैतन्य दोनों में; किन्तु लोभ होता है केवल जड़ पदार्थों में–राज, धन, सम्पत्ति, शासन, मान आदि का। इस दिशा का अधिपति इन्द्र है। 'इन्द्र' कहते हैं ऐश्वर्य्यवान् को।

लोभी मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये पेचदार चालें; कूटनीतियां और पालीसियां सोचता तथा बरतता है। इसे 'तिरश्चिराजी' कहा जाता है। इससे भी द्वेष भाव पैदा होता है।

दुर्योधन ने लोभ के मारे कितनी कुचालें चलीं। जूए का जाल बिछाया। किस चालाकी से युधिष्ठिर को बुलवाया। लाख का घर बनवाया,बनवास दिया। अर्जुन को पतित करने के उपाय सोचे। ऐसे ही औरंगजेब ने भी क्या क्या न किया?

यह बंधन कैसे टूटे?

इस जाल से निकलने के लिये साधक यदि लगातार दिल से प्रयत्न करे, तो पितरों की शरण से लोभ (स्वार्थ) परमार्थ में बदल कर सब को अपनी ही आत्मा समझने लगेगा। फिर वह किसको लूटेगा?

'पितर' उसे कहते हैं, जो गृहस्थ के समस्त इन विषयों की उलझनों से निकल कर वनस्थ (वनवासी-विरक्त) हो गया है और अपने तपोमय जीवन तथा गृहस्थ आदि की समस्त बातों का अनुभव रखता है, अर्थात् जो वयोवृद्ध, संसार का अनुभव प्राप्त करके ज्ञानी हुए हैं। उन पितरों के उपदेश रूपी बाणों और उनकी अनुभूत शिक्षाओं से जब मनुष्य लोभ को जीत लेता है, तो उस समय लोभ से विपरीत जितने भी शुभ कर्म हैं, उन में ही वह अपना जीवन व्यतीत करने लगता है।

अस्तु, दक्षिण दिशा का अर्थ है सीधा मार्ग अथवा त्याग की अवस्था। दान पुण्य यज्ञादि की अवस्था का ही यह नाम है। दक्षिण का अर्थ दक्षिणा भी है। दक्षिणा कहते हैं, यज्ञ, दान और त्याग करो।

प्रतीचीदिक् तीसरी ग्रन्थी-काम बन्धन

अब तीसरा बन्धन है मोह के मुकाबिले का काम–प्रतीची-दिक्–पीछे की ओर अर्थात् शरीर के पिछले भाग में (पश्चिम की ओर) वीर्य का भाग है अर्थात् काम जन्य कार्य का भाग है पीछे (रीढ़ की ओर)।

मोह की अवस्था थी तम की, लोभ की अवस्था थी तम-रज की, अब यह तम भी रज में बदल गया। अब रज प्रधान दिशा है।

इस दिशा में काम को 'पृदाकू' कहा गया है। 'पृदाकू' कहते हैं अजगर—बड़े भारी विषैले सर्प को—तो काम भी एक बड़ा भारी अजगर है।

रावण जैसे पंडित विद्वान्, श्रेष्ठ कुल ब्राह्मण को, जो वेदों का ज्ञाता था और ब्राह्मण ग्रन्थ का रचयिता था, जो साइन्स का धुरन्धर विद्वान् था, जिसे किसी बन्धु का मोह तो कहाँ, अपने जान प्राण का भी मोह नहीं था, उसे इस काम रूपी अजगर ने जकड़ रखा था। इस काम ने ही उसे इस श्रेष्ठ पद से गिराकर उसका नाश कर दिया। काम उसे ऐसे खा गया, जैसे मनुष्य अन्न खा कर उसका नाश कर देता है।

इस 'पृदाकू' काम से भी वह प्रभु ही रक्षा करने वाले हैं।

इस दिशा का अधिपति है 'वरुण'। 'वरुण' है जल का देवता और काम भी जल (वीर्य) इन्द्रिय की उत्तेजना से ही होता है।

'प्रतीचीदिक्' का आध्यात्मिक अर्थ है, अन्दर की ओर होने की अवस्था-अन्तर्मुख वृत्ति करना।

काम का स्थान आँख है जब कि बहिर्मुख हो और जब

वह (आँख) अन्तर्मुख हो जावे, तो 'अन्न इषव':-अन्न का अर्थ खा जाने वाला अथवा जत्त अर्थात् अन्याय पूर्वक घात करने वालों को उनका अन्याय ऐसे मार देता है, जैसे अन्न नष्ट हो जाता है, अतः वह अन्तर्मुख वृत्ति उस कामरूपी विषय को जीत लेती है अर्थात् खा जाती है।

या "अन्न" का अर्थ है लज्जा, लज्जा इस काम को जीतने का प्रमुख (बड़ा) हथियार है। इस मन्त्र में एक तो ऐसा भान करना है कि जैसे अन्न खाया जाता है और नाश हो जाता है, दाने का मुख चक्की में रहता है, ऐसे ही कामी मनुष्य भी नष्ट हो जाता है।

दूसरा "अन्न" का अर्थ है संन्यासी। सब आश्रमों में श्रेष्ठ आश्रम सँन्यास का है और समस्त खाद्य पदार्थों का राजा अन्न है।

'अन्न' का अर्थ है विषयों पर विजय पाने वाले 'अन्न संज्ञक पुरुष' (सन्ध्या सुमन)।

उदीचीदिक् चौथी ग्रन्थी-क्रोध बन्धन

इसके उपरांत चौथी अवस्था में रज नाम मात्र रहता है और सत् का उदय हुआ होता है—रजसत् की अवस्था। "उदीची"—उत्तर की, 'उत्' के अर्थ ऊँची और 'उद्' के अर्थ श्रद्धा के भी हैं। यह श्रद्धा की दिशा उत्तर की दिशा है, जिसका स्वामी ('अधिपति') "सोम" है। इसमें बन्धन है, 'स्वजो' जो अपने आप उत्पन्न हो, वह है साधक के अंदर क्रोध। उसकी रत्ता करती है 'अशनि'—विद्युत्—जो त्तरण में ही अपना प्रभाव कर देती है। त्तणिक चमत्कार होता है, फिर गुम हो जाता है, परन्तु विद्युत रहती है सब स्थान में व्यापक रूप से।

कोई मनुष्य अथवा प्राणी ऐसा नहीं, जिसमें दया का गुण न हो। यह दया भी एक बाण है, विद्युत् है, जो क्रोध को शान्त कर के सोम रूप बना देती है। जब साधक का स्वभाव दया का हो जाय तो वह सोम रूप बन जाता है।

"दया धर्म का मूल है"

"अशनि" योगी की अवस्था है, जिसे स्वतः प्रकाश होता है। अपने प्रकाश में ही वह काम करता है। क्रोध जीत लेने पर ही 'सोम' अवस्था योगी को प्राप्त हो जाती है। "अशनिरिषवः" योगी का बाण है।

जो मनुष्य आत्मा की ओर गति करता है अथवा उसे प्राप्त करता है उसका नाम ही 'अशनि है' (सन्ध्या सुमन)।

ध्रुवादिक् पांचवीं ग्रन्थी-अहंकार बन्धन

पांचवीं अवस्था है सत् की। बन्धन है उसमें अहंकार। यह है सर्वव्यापी। जैसा "ध्रुवादिक्" नीचे की दिशा में दृढ़ रूप से "विष्णु" सर्वव्यापक "अधिपति" है, वैसे ही अहंकार पैर से लेकर चोटी तक व्यापक और मालिक बना हुआ है। जैसे विष्णु द्वारा समस्त जगत् का पालन पोषण होता है, वैसे इसी अहंकार से भी सारे पिण्ड (शरीर) का पालन पोषण हो रहा है। यदि अहंकार न रहे, तो पालन पोषण भी न हो सके। तो अहंकार को "वीरुध" नीचे से ऊपर जाने वाली—उलटा कर नम्र कर दिया जावे। साधक में नम्रता का भाव आ जावे, तो वह बस पूर्ण देव (देवता) बन जावे।

ब्रह्मज्ञानी जिन्होंने नीचे प्रकृति से ऊपर की ओर ब्रह्म तक दर्शन का साधन किया, उन्हें "वीरुध" कहा गया है।

"कल्माषग्रीवो" काली गरदन, अकड़ी हुई अहंकार युक्त गरदन के लिये नम्रता बाण है। ब्रह्म-ज्ञानियों का संग अहंकार के नाश करने का बाण है। जब साधक ने अपने तपोमय जीवन से जन्म जन्मान्तर में या अनेक वर्षों में निरन्तर प्रयत्न करके मोह, लोभ, काम, क्रोध, अहंकार को अपने वशीभूत कर लिया, तो वह अन्तिम पराकाष्ठा पर चक्रवर्ती राजा के समान पहुँच गया।

ऊर्ध्वादिक् छठी अवस्था-निबन्धन

यह छठी अवस्था "ऊर्ध्वगति" सब से ऊंची अन्तिम पराकाष्ठा की अवस्था है। इस दिशा का अर्थात् "ऊर्ध्वादिक्" का 'अधिपति' 'बृहस्पति' है जो बड़ों का बड़ा स्वामी है, ज्ञान का अधिष्ठाता है। वाणी का स्वामी है और विद्या का गुरु है। इस अवस्था में बन्धन का सब कलंक मिट जाता है। अब सर्वथा श्वेत सत्य ज्ञान (श्वित्रो रक्षिता) ही रक्षक होता है। साधक निष्कलंक, निर्मल, निर्विकार हो जाता है। जैसे वर्षा आने पर सारी भूमि भीग जाती है और हरियावल ही हरियावल दिखाई देने लगती है, जो सब के दिलों को सुहावनी-लुभावनी जान पड़ती है। ऐसे ही प्रभु का भक्त इस अवस्था को प्राप्त करके भक्ति अमृत से भीग जाता है। अपने जीवन में ही जीवन मुक्त, बेलाग, और हरा-भरा हो जाता है। अब वह विषयों का दास नहीं रहता वरन् उनका स्वामी बन जाता है। (इस सब का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठ पर कोष्ठक में भली प्रकार दे दिया है)।

समझने के लिये कोष्ठक

बन्धन की अवस्था तथा उन से छुटकारा पाने के साधन

अवस्था	दिक्	अधिपति	रक्षिता	बंधनग्रंथी	इषवः	साधन
तम	प्राची प्रथम	अग्नि	असिता	मोह	आदित्य ज्ञानी	मोह ज्ञान से दूर होता है।
तम-रज	दक्षिणा दूसरी	इन्द्र	तिरश्चिराजी	लोभ	पितर	लोभ-संसारी अनुभवी पितरों के सत्संग, दान तथा यज्ञ से दूर होता है
रजप्रधान	प्रतीची तीसरी	वरुण	पृदाकू	काम	अन्न	काम—कामजित संन्यासी महात्मा जिन्होंने विषयों पर विजय पाई हो, तप से काम को जीता हो, उनके सत्संग से काम दूर होता है।

रज-सत्	उदीचीचौथी	सोम	स्वजो	क्रोध	अशनि	क्रोध–योगी, योग द्वारा क्रोध को जीत कर ही शान्ति प्राप्त करता है।
सत्	ध्रुवा पांचवीं	विष्णु	कल्माष ग्रीवो	अहंकार	वीरुध	अहंकार—ब्रह्म ज्ञानी जिन्होंने नीचे प्रकृति से ऊपर ब्रह्म तक पहुंचने कीसाधनाकी हो, उनका सत्संग इसकी निवृत्ति के लिये लाभकारी है।
अन्तिम पराकाष्ठा	ऊर्ध्वा छठी	बृहस्पति	श्वित्रो	—	वर्षा	प्रभु की पूर्ण दया

भीमसेन—महाराज! यह व्याख्या तो बड़ी विचित्र तथा हृदय-ग्राही है।

वनी—बेटा भीमसेन! वह दिव्यदृष्टि अब लोगों में नहीं रही, जो प्राचीन आर्यों में वैदिक-धर्म के कारण थी। वेदों की कविता दिव्य काव्य है। जिस महाप्रभु का यह काव्य है, उसके समझने के लिये सूखे ज्ञानी और संकुचित हृदय मनुष्य कैसे सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं? किसी वनमानस के हृदय पर उच्च कविता का क्या प्रभाव? पवित्र हृदय ही इन मन्त्रों का रस और आनन्द ले सकता है, अन्य नहीं। हां! तुम कहोगे कि फिर वेद का जन साधारण के लिये तो कोई लाभ न हुआ और वेद का पढ़ना पढ़ाना सब आर्यों का परमधर्म वाला नियम व्यर्थ ही हुआ। किन्तु ऐसा नहीं। प्रत्येक मनुष्य वेद से लाभ उठा सकता है। परन्तु अपनी योग्यता के अनुसार और अवस्था के अनुसार। जैसे साधारण मनुष्य जल से प्यास बुझाना जानता है और अग्नि से सरदी दूर करना और इससे अधिक नहीं। किन्तु साइन्स वेत्ता विज्ञानी जल तथा अग्नि से अनेक लाभ प्राप्त करके स्वयं भी माला-माल होते हैं और संसार का भी उपकार करते हैं। ऐसे ही बड़े योगी और आत्म-ज्ञानी पुरुष भी उसी वेद मंत्र का *काव्य दृष्टि* से अवलोकन करके परमात्मतत्त्व के सिद्धान्तों को जान लेते हैं। ("सन्ध्या उपासना से")

श्रद्धापूर्वक आचरण करते हुए कोई समय ऐसा भी आ जायगा, जब कि हमारी भी वैसी ही दृष्टि बन जायगी। अतः बार बार प्रयत्न करते रहना चाहिए। सिद्धि मिलने तक पुरुषार्थ करते

रहना ही उचित है। अभी तो भूमिका का भी आरम्भ काल ही है। इन मन्त्रों में यही तो मर्म की बात है कि जब पूर्णतया द्वेष तथा अहंकार का त्याग हो जायगा, विश्व प्रेम में वृत्ति बदल जायगी, सब आत्मायें एक समान दृष्टि देने लगेंगी, तब प्रभु के दिव्य काव्य को देख और सुनकर मनुष्य का रोम रोम नाचने लग जायगा जैसे बीन बजने पर सर्प से अपने विष द्वेष का त्याग हो जाता है और वह मस्त होकर झूमने लगता है, और बादल के गरजने पर मोर बे-सुध सा होकर नाचने लगता है।

भीमसेन—फिर इन पूरे छः मन्त्रों के प्रतिदिन विचार, ध्यान या पाठ का क्या लाभ ? हमें तो एक पर जब सफलता हो जाय तो दूसरे को आरम्भ करना चाहिये।

वनी—बेटा ! इसे एक अलंकार से समझो। एक बड़ा सुन्दर महल है, जिसकी छत नंगी है। फ़र्श बड़ा मनोहर *मोह रूपी* संग-मरमर का लचकदार है। दीवारें *अहंकार* की हैं, किंतु उनकी नींव नहीं है। तीन उसमें कमरे हैं। एक कमरा विलास (ऐयाशी) का है, जिसका द्वार '*काम*' है। दूसरा कपट सम्पत्ति का जिसका द्वार '*लोभ*' है। तीसरा झगड़े फ़साद का, जिसका द्वार '*क्रोध*' है। इस महल का नाम है '*नरक*'। इस महल का स्वामी है *पापी-शाह*। यदि सारे महल को शीघ्र ही गिराने की आवश्यकता अथवा इच्छा है, तो सब जगह ही लग जाना चाहिये। जो जो भाग जैसे जैसे गिरता जायगा, वैसा वैसा लाभ होता जायगा। तुम देखते हो किसी में मोह अधिक है और लोभ कम। किसी में

लोभ अधिक है और क्रोध कम। किसी में क्रोध है किन्तु मोह कम। ऐसी यह सभी अवस्थायें पूर्व संस्कार से हैं। हैं तो सब की सब, किन्तु न्यूनाधिक। अतः सभी के हटाने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर जाने कौन सा समय आ जाय कि प्रभु दया करके बेड़ा पार लगा दें।

पीछे भी मन्त्रों में समझा आया हूं; किन्तु फिर भी संक्षेप से यों समझो—

यह द्वेष और अभिमान मोह से पैदा होता है तथा लोभ, काम, क्रोध और अहंकार से भी। जब मोह से द्वेष पैदा होता है, तो ज्ञान नहीं रहता, औसान उड़ जाते हैं। जब लोभ से द्वेष पैदा होता है, तो ईमान नहीं रहता। मनुष्य धर्म-पथ से गिर जाता है। जब काम से द्वेष पैदा होता है, तो श्रेष्ठता नष्ट होकर नीचता आ जाती है। जब क्रोध से द्वेष पैदा होता है, तो मनुष्य की सौम्यता मारी जाती है और जब अहंकार से द्वेष हो तब धीरता, गम्भीरता और दृढ़ता उड़ जाती है। इसी लिये इन छः मन्त्रों में इस पैदा होने वाले द्वेष और अभिमान के नाश के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है कि

यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

—o—

नवीं सीढ़ी

उपस्थान मन्त्र

प्रभु के सन्मुख

उपस्थान के चार मन्त्र हैं। 'उपस्थान' के सीधे अर्थ हैं 'उप+स्थान' 'समीप के स्थान पर बैठना।' यही मन्त्र ध्यान के हैं। जीव सदैव भूल में रहता है। प्रथम प्रकृति के क्षणिक आनन्द में निमग्न था। उसके अभ्यास से अपने आप को भूला हुआ था। जब उसे आदित्य, पितर, संन्यासी, योगी और ब्रह्मज्ञानियों के उपदेश, सत्संग, तथा सहवास से यह ज्ञान हो गया, कि प्रकृति मेरे बंधन का कारण न थी, मेरी विषय वासना के संस्कार ही मुझे बांधे हुए थे। कारण, जब जीव आत्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है, तो उस समय संसार और ससार के भोग, मन, इंद्रियां और उनकी विषय शक्ति सभी साथ होती हैं, परन्तु संस्कार का तार बीच में टूट जाने से उसे कोई बन्धन नहीं होता। ग़रीबी, अमीरी, दुःख सुख, मान, अपमान, हानि लाभ किसी भी प्रकार का उस पर प्रभाव नहीं डालते तो मनसा परिक्रमा के छठे मन्त्र में साधक जब उस शुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर के बृहस्पति बन गया और मन श्वेत हो गया, निर्मल हो गया, तब वह जीव आत्मा परमात्मा के पास जा पहुँचता है। जैसे यात्री मनुष्य जब किसी पहाड़ी प्रांत में जा पहुँचता है तो उसकी आंखों के सामने पहाड़ ही पहाड़ दिखाई देते हैं और धरती पर भी कंकड़ पत्थर ही दृष्टि आते हैं और वह चारों ओर पहाड़ों से घिर जाता है। जब कोई

यात्री जंगल में पहुँच जाता है, तो इर्द गिर्द आगे पीछे भी जंगल ही जंगल देखता है तथा जङ्गली पशुओं के शब्द ही सुनता है। या कोई यात्री जब जहाज् पर सवार होता है, तो चारों ओर पानी ही पानी देखता है, या जब दरयाई इलाके में जाता है, तो रेत ही रेत दिखाई देती है, ऐसे ही जब मन ज्ञानस्थल पर पहुँच जाता है तो उसके सामने ज्योतिर्मय लोक आ जाता है। उसे सब ओर से ज्योति ही ज्योति घेरे होती है और नाना प्रकार के प्रकाश, चमत्कार, गुप्तरहस्य उसके सामने अपने आप आने लगते हैं।

उस समय भक्त यह अनुभव करने लगता है कि प्रकृति तमस् है, किन्तु उत्कृष्ट है, मैं जीव आत्मा उत्तर हूं, और परमात्मा जो ज्योतियों की ज्योति है, वह उत्तम है॥

अब इस पहिले मन्त्र में तो उसे प्रकृति, जीव, परमात्मा अलग अलग दिखाई देते हैं किंतु "*उद्वयन्तमसस्परि*" वह प्रकृति से ऊपर होकर "*स्वःपश्यंत उत्तरम्*" अपने आप को देखता है–किन्तु '*देवम् देवत्रासूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्*' वह तो प्रभु की उत्तम ज्योति अपनी ज्योति में मिलाकर परम आनन्द लेना चाहता है। अतः '*उदुत्यं जातवेदसम्*', उसे उस जातवेद उत्तम ज्योति प्रभु की ओर–'*देवं वहन्ति केतवः*' संसार के समस्त देव संकेत करते दिखाई देते हैं–*विश्वाय सूर्य* विश्व के सूर्य्य का "*दृशे*" दर्शन करने के लिये

पहले चेतन ज्ञानियों से उपदेश पाकर माया के बन्धनों को जीतने का प्रयत्न किया, अब अणु अणु उसे पुकार पुकार कर कह रहा है, विश्व के सूर्य्य की ओर चले चलो। जैसे चौराहे के तख्ते (बोर्ड) हाथ की मूर्ति बनाये यात्री को बतलाते रहते हैं 'लाहौर इधर को, 'मुलतान उधर को'।

"उदुत्यंजातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यम्"

ज्यों-ज्यों साधक देखता है, उसे प्रभु की लीला विचित्र ज्ञात होती है और वह उसमें मग्न हो जाता है, तो '*चित्रं*' प्रभु की लीला चित्र विचित्र–*देवानां*', उस भक्त के हृदय में, *अनीकं* बड़े बल से *उदगात्* फैल जाती है—और उसे समस्त देवों की पथ प्रदर्शक चक्षुः आंख—*मित्रस्य वरुणस्याग्नेः*। मित्र वरुण अग्नि जो *आप्रा-द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष* तीनों लोक द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी में व्याप्त है *सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च* वह जड़ जंगम स्थावर का सूर्य ज्योतिस्वरूप है। अब इस लीला से जब उसे आनन्द आता है, और प्रभु को ही वह केवल अपना समझता है, तो बलिहार होकर कह देता है '*स्वः......हा स्वाहा*" अपना आपा उस प्रभु के चरणों में अर्पण कर देता है।

प्रभु के ऐसे उपासक दो प्रकार के मस्ताने होते हैं। एक तो बाहर की विचित्र रचना को देख कर, पत्ते पत्ते में उस प्रभु की सत्ता (कारीगरी) पर मोहित होकर मुग्ध हो जाते हैं। यह तो 'एकं ब्रह्म' कहने वाले बन जाते हैं।

दूसरे अपने शरीर के अन्दर ही शरीर की विचित्र रचना

और विधान देख कर अपने में उन्मत्त हो जाते हैं। बाहर की समस्त लीलाएँ उन्हें अपने आप ही होती जान पड़ती हैं। यह अपने में ही सब को देखने वाले होते हैं और सब को उसी परमात्मा में देखते हैं। वह अपनी आत्मा के तुल्य ही सब को जानते हैं। यह अपने आप को भूल कर 'अहं ब्रह्म-अस्मि' कहने वाले होते हैं।

भीमसेन—महाराज ! कृपा करके थोड़ा सा उदाहरण देकर समझादें कि बाह्य विचित्र रचना पर मोहित होने वाले क्या दृश्य देखते हैं और अन्दर शरीर में देखने वाले क्या ?

बाह्य की विचित्र लीला

वनी—असंख्यात प्राणी हैं और असंख्य योनियां। क्या विचित्रता है कि एक का रूप दूसरे से नहीं मिलता और जब से सृष्टि चली आती है, एक अरब ६७ करोड़ ४६ लाख वर्ष से भी ऊपर हो गये परन्तु आज तक एक भी सूरत दूसरे से नहीं मिली। प्रभु कैसे और किस बुद्धि से यह बनाते हैं ?

२—प्रभु ने धरती बनाई परन्तु उसके खंड खंड का प्रभाव भिन्न भिन्न है। कहीं सोना, कहीं चांदी, कहीं लोहा, कहीं पारा, कहीं सोडा, कहीं खार होता है। कोई अन्न की, कोई बाग़ की, तो कोइ चाय काफ़ी की, कोई पत्थरीली, कोई मैदानी है। कानें हैं कोई लवण (नून), कोई नीलम, कोई हीरे पैदा करती है। कहीं नारियल हैं और कहीं आम।

३—जल हैं तो प्रभाव अलग अलग। कोई भारी, कोई हलका, कोई कड़वा, कोई खारा (नून जैसा), कोई मीठा, कोई तेलिया। किसी से अतिसार (दस्त), किसी से विबन्ध (कब्ज़), किसी से ज्वर, किसी से स्वास्थ्य होता है।

४—रंग बनाये तो नाम एक किन्तु रूप एक समान नहीं। पीले रंग को ही लो—आम, संतरा, नींबू, गलगल, हलदी, केशर, सोना, सूर्यमुखी, गेन्दा, अग्नि, सरसों के फूल, सभी पीले हैं किन्तु एक से दूसरा नहीं मिलेगा। यह दशा दूसरे भी रंगों की है।

५—स्वाद बनाये तो सब समान नहीं। खटाई को ही देखो—दही, लस्सी, कुलफा, आम, नीबू, गलगल, जामन, आंवला, आलु बुखारा, किसी का स्वाद भी एक दूसरे से नहीं मिलता।

६—करेला कड़वा बीज फीका, नीम कड़वी निम्बोली मीठी, नीबू खट्टा बीज कड़वा, पीलू मीठे बीज कड़वा।

७—संतरे की बनावट तथा उत्पत्ति देखो। बीज श्वेत, डंडी मटियाली, पत्ते हरे, फूल श्वेत मनोहर सुगन्ध वाले, छिलका पीला, फांकें गुलाबी, एक एक सन्तरे में बारह डलियां और एक एक फांक में तीन तीन बीज, एक एक सन्तरे में ३६ बीज।

८—अनार की गुन्धावट देखो। कैसी बंधी हुई। एक दाने को निकाल लो तो बड़े से बड़ा कारीगर वैज्ञानिक भी उसे फिर वहां नहीं जमा सकता।

९—गुलाब के फूल में सुगन्धि परन्तु पत्ते, डंडी और बीज में कुछ भी नहीं।

१०—माता के गर्भ में बालक कैसे रहता है और कैसे बढ़ता है ? कैसे उसका पालन-पोषण होता है ? फिर किस प्रकार छोटे से छिद्र में से इतना बड़ा बालक निकल आता है ? बलिहार ! बलिहार !!

११—मकड़ी अपने ही अन्दर से कैसा महीन तार निकाल कर किस प्रकार जाल बनाती है ?

१२–आन्तरिक तथा विचित्र लीला शरीर की

मनुष्य एक पदार्थ को भी अनेक नहीं बना सकता, किन्तु प्रभु की लीला देखो । मनुष्य अन्न तो खाता है, तो अन्दर जाकर उस अन्न का क्या क्या बन जाता है, फिर सब का रंग भिन्न-भिन्न। हड्डी, पीप, मांस, रुधिर, रस, मज्जा, चरबी, खाल, नख (नहूं), बाल, वीर्य, थूक, खंगार आदि ।

मनुष्य शरीर में प्रभु की विचित्र लीला

(एक सियालकोटी महाशय की पुस्तक से उद्धृत)

कार्यालय फौंडरी—आमाशय (मेदा) अपने अन्य सम्बन्धित यन्त्रों सहित एक ऐसा विचित्र कार्यालय है, जिस में भांति भांति की धातें ढलती हैं। भट्टी में अग्नि प्रदीप्त करने के लिये धुकनी की भी आवश्यकता है। हमारे दोनों फेफड़े दो ऐसी स्थायी धुकनियां हैं, जो दिन रात अग्नि प्रदीप्त करने के लिये निरन्तर फूंक लगाने में व्यस्त रहती हैं।

मल पात्र और मसाना—यह दो नाल हैं, जिन में ढली हुई धातों का मैल तथा इन्जन का अनावश्यक जल एकत्रित रहता है। साधारण कार्यालयों में ऐसा जल स्वयमेव बह बह कर बाहर निकलता रहता है किन्तु इसमें ऐसे जल और मैल (मल) का निकास कार्यालय के स्वामी की स्वीकृति और आज्ञा पर निर्भर है। इस में भी प्रभु का एक रहस्य है। (अ) यदि मनुष्य शरीर से मल मूत्र का निकास मनुष्य की इच्छा के आधीन न होता, तो

उसका शरीर, वस्त्र, बिछौना, लेटने-बैठने का स्थान सदैव गन्दा, दुर्गन्धि युक्त और घिनौना रहता। (आ) बड़े-बड़े विशाल भवनों में मल स्थान (पाखाना) प्रायः रहने के कमरों से दूर, एक कोने में होता है और समय-समय पर साफ होता है। फ़ैनील आदि से उस की दुर्गंध दूर की जाती है। वर्षा ऋतु में फिर भी दुर्गंध रहती है किन्तु मनुष्य शरीर में मल सदैव बना रहता है, परन्तु न तो शरीर के स्वामी ही और न किसी आस-पास वाले को ही उसके इस आन्तरिक मल की दुर्गन्ध आती है। इस प्रयोजन से प्रभु ने मोमी वस्त्र की एक ३४—३५ फ़ीट लम्बी थैली बना रक्खी है, जिसमें बड़ी दक्षता और चतुराई से इस मल को इस प्रकार लपेट कर रक्खा है कि वर्षों पड़ा रहे, परन्तु दुर्गन्ध बाहर न निकलने पावे फिर आश्चर्य यह कि एक क्षुद्र वर्ग स्थान (आमाशय) में यह ३५ फ़ीट लम्बी थैली भी ऐसी चतुराई से रक्खी है कि न बल ही पड़े और न पेच ही और रक्खी भी जाय लपेट कर। मांसाहारी पशुओं के आमाशय में प्रायः न केवल कच्चा मांस ही, वरन् पत्थर जैसी कठोर हड्डियां भी इस आमाशय की अग्नि से गल कर पानी सी पतली हो जाती हैं, किंतु यह आमाशय जो एक नरम सूक्ष्म से मांस का बना हुआ है, उस पर पत्थरों के गलाने वाली इस अग्नि का रत्ती भर भी प्रभाव नहीं पड़ता।

मूर्ति बनाने का कार्यालय—इस कार्यालय से मिला हुआ ही एक दूसरा कार्यालय भी है, जहां पत्थर काटने और मूर्ति बनाने का काम होता है। इस कार्यालय में पौने दो इंच लम्बे कमरे में, जिसे बच्चा-दानी कहते हैं। (अ) बिना किसी कारीगर, यंत्र, या शोरे-गुल के चुपचाप ही मनुष्य तथा पशुओं के बच्चों की

नाना रूप तथा आकृति की मूर्तियां बनती रहती हैं (आ) संसार में कोई भी प्राणी श्वास लिये बिना जीवित नहीं रह सकता परन्तु प्रभु की विचित्र कारीगरी यह है कि गर्भ में बच्चा सांस लिये बिना भी महीनों जीवित रहता है ।

तारघर—इसी अहाते में एक बड़ा शानदार तारघर है, जिसमें सैंकड़ों बिजली के तार लगे हुए हैं । जहां रात-दिन तार समाचार बाहर से पहुँचते रहते हैं । उनके पाने के लिये पांच तार बाबू और एक हैडक्लर्क (मुख्याधिकारी) है । जो सब की पाई हुई खबरें कार्यालय के स्वामी को पहुंचा देता है । यह तारघर शरीर का वह भाग है, जिसे 'खोपड़ी' कहते हैं । शरीर के सैंकड़ों पट्ठे बिजली की तारें हैं । पांच तार बाबू पांचों ज्ञानेन्द्रियां हैं और मस्तिष्क (बुद्धि) उनका मुख्याधिकारी है ।

फ़ोटो के कैमरे—उसके साथ ही एक बड़ा बढ़िया फ़ोटो ग्राफ़ी (छाया चित्र) का कार्यालय है, जिसमें दो कैमरे (चित्र के यंत्र) उनके शीशे का घेरा १/८ इंच है और उसका व्यास (Diameter) १/२४ इंच, किन्तु इन ऐसे छोटे शीशों द्वारा बड़े-बड़े दरयाओं, पहाड़ों, नगरों वरन् देश-देशान्तरों के चित्र बड़ी सुन्दरता और सफ़ाई के साथ खेंचे जाते हैं और एक ६ इंच वर्ग कमरे में एकत्रित कर दिये जाते हैं, फ़ोटो ग्राफ़ी का कार्यालय भी मस्तिष्क (दिमाग़) का एक ही भाग है । इसमें दो कैमरे, दोनों आंखें हैं, दो शीशे हैं आंखों की दोनों पुतलियां हैं । आंखों के डेलों

को बाहरी चोट से सुरक्षित रखने के लिये उस सर्वज्ञ प्रभु ने उन्हें दो गहरे गढ़ों में रक्खा है, और गर्द धूल से बचने के लिये उनके आगे पलकों की चिकें लटका दी हैं और छेदों अर्थात् पपोटों के किवाड़ या परदे भी बना दिये हैं, जिससे कार्यालय बन्द हो जाने पर उन्हें नीचे गिरा कर द्वार सर्वथा बन्द कर दिया जावे।

टेलीफ़ोन और फोनोग्राफी—इसी जगह एक और विशाल भवन खड़ा है, जिसके दोनों और दो बड़े द्वार हैं, उसके एक भाग में टैलीफ़ोन (मुख द्वारा फ़ासले पर बातचीत करने का यंत्र) का सिलसिला बड़े विस्तृत रूप से स्थिर है और दूसरे में फ़ोनो-ग्राफ़ी का काम जारी है। इसमें दो ही तवे (प्लेटें) सैंकड़ों वर्षों तक सूई बदले बिना ही बड़ी सुन्दरता से काम देते रहते हैं। यह भवन भी खोपड़ी में ही है, जिसके दो द्वार दो कान हैं और कानों के अन्दरले परदे दो तवे हैं॥

गायनालय—इससे मिला हुआ ही एक और कार्यालय है। जहां नाना प्रकार के वादन-यन्त्र (बाजे) सारंगी, सितार, मद्धम, मृदंग, तबला, ताऊस, बीणा, बांसुरी और हारमोनियम बनते और बजते-बजाते रहते हैं। विचित्र बात यह है कि इस कार्यालय में बने हुए सब बाजे एक ही तार से बजते हैं और केवल एक ही चाबी सैंकड़ों स्वर निकालने का काम देती है। यह कार्यालय शरीर के उस भाग में है जिसे तालू, जिह्वा, कंठ (हलक़) कहते हैं और वह एक मात्र तार वह है, जिसे धमनि (शिरा-शाह रग) कहते हैं और वह एक ही चाबी जिह्वा है।

पिसाई का कार्यालय—इस अहाते में एक आटा पीसने की

मशीन (चक्की) या भारी जिन्दरा लगा हुआ है। जिन्दरा चलते समय, ओखल में हाथ डाल कर माल ऊपर नीचे करने के काम पर एक चतुर अनुभवी मज़दूर लगा हुआ है, जो जिन्दरा के धमा-धम चलते समय ओखल में बड़ी सफ़ाई के साथ फेरता रहता है, किन्तु क्या मजाल जो जिन्दरा हाथ को छू भी जाये, यह मशीन जिन्दरा तालू, मुख दोनों होठ और दांत हैं और मज़दूर जिह्वा है जो ग्रास चबाते समय ग्रास को दांतों तले नीचे ऊपर करते रहने में ही लगी रहती है।

नहर तथा सिंचन विभाग—इनके अतिरिक्त यहां खेती-क्यारी का काम भी होता है, जिस के लिये नहर का एक बड़ा महकमा जारी है। इसमें छोटी बड़ी सैंकड़ों नहरें बहती हैं और देश के प्रत्येक भाग का सिंचन करती हैं अर्थात् रक्त से भरी हुई सहस्रों रगें और नाड़ियां, और असंख्य रोम अर्थात् शरीर पर के बाल मानो नाना प्रकार की खेतियां हैं।

निर्माण विभाग—यह विभाग दिन रात बनाव बिगाड़ में लगा रहता है। सैंकड़ों चोट और फट जो बाहर शरीर पर लगते रहते हैं, वह बिना किसी चिकित्सा के अपने आप ही स्वाभाविक रूप से ठीक होते रहते हैं।

चिकित्सालय—चिकित्सा तथा चीर फाड़ का काम भी निरन्तर होता रहता है। सैंकड़ों आन्तरिक रोग अपने आप ही प्राकृतिक रूप से दूर होते रहते हैं और कई आन्तरिक क्षत (जख़्म) बिना किसी चिकित्सा के अन्दर ही अन्दर स्वयमेव भरते

रहते हैं।

घंटाघर—इस महान् संसार और इसके अन्दर नाना प्रकार के असंख्य कार्यालयों के प्रबन्ध के नियम पूर्वक रखने के लिये इस में एक विशाल घंटाघर भी है, जिसकी मशीनरी बड़े नियमानुसार चौबीसों घंटे टिक-टिक की ध्वनि करती रहती है, और लटकन (पैंडूलम) सदैव स्वभावतः हिलता रहता है। यह घंटाघर दिल और उसका नस नाड़ी प्रबन्ध है। इसकी सुई नाड़ी (नब्ज) तथा उसकी धड़कन का शब्द टिक-टिक है। लटकन हृदय यंत्र का लोथड़ा है। यह घड़ी समय बताने के साथ ही सरदी गरमी का अनुमान बताने वाले यन्त्र "बेरो मीटर" का काम भी देती है।

सन्तरी—बड़े-बड़े कार्यालयों के दरवाजों पर सन्तरी (सिपाही) भी कन्धे पर बन्दूक रक्खे इधर-उधर दम लिये बिना टहलता रहता है। ठीक इसी प्रकार प्राणवायु यहां पहरेदार है, जो कभी रुके बिना बराबर अन्दर आती और बाहर जाती रहती है। यही उसका पहरा है। यह कभी किसी को उलटे मार्ग पर चल कर आगे बढ़ने नहीं देती, उदाहरण रूप से यदि कोई अन्न-कण अथवा जल बिंदु अपना ठीक मार्ग छोड़कर आमाशय में जाने की जगह फेफड़े की ओर जाने लगता है तो यह उसे धक्का देकर बाहर निकाल देती है, जिसे दुथडु लगना बोलते हैं।

एक और विचित्रता

शरीर का सुडौलपन—प्रभु की प्रत्येक रचना ज्ञान सहित है। शरीर के प्रत्येक भाग में सुडौलपन (तनासुब) पाया जाता है। हाथ के अंगूठे की मोटाई से दुगनी कलाई की मोटाई होती है और कलाई की मोटाई से दुगनी गले की गोलाई होती

है। हाथ की मुट्ठी की गोलाई के बराबर पैर की लम्बाई होती है। इसी प्रकार सारी इन्द्रियां और सब स्थान एक विशेष नाप के अनुमान में बनाये गये हैं।

अब भक्त यह विचित्रता देखकर भगवान् के आनन्द-स्वरूप में निमग्न हैं। ध्यान में मग्न होने के कारण उसके अभ्यास से अपने आप को भूला हुआ है। किन्तु जब तक उसका ध्यान शरीर में है तब तक स्थायी नहीं हो सकता, अतः जब भी वह इस डुबकी से ऊपर उठता है, उसकी यह इच्छा होती है कि मैं अब इस आनन्द को पाकर *",तत् चक्षु"* जिस चक्षु का पिछले मन्त्र में भान करके वह मग्न हो गया था, जो *"देवहितम्"* देवों का हितकारी है, और *"पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्"* अर्थात् पहले से ही तेज का पुंज है, उसके *"पश्येम शरदः शतम्"* सौ वर्ष तक दर्शन करता रहूं किन्तु दर्शन तभी कर सकता है, जब वह जीता हो। अतः कहता है *"जीवेम शरदः शतम्"*–मैं सौ वर्ष तक जीता भी रहूँ। अब जिस वाणी से ज्ञान प्राप्त किया और प्रभु के अमृत उपदेश अन्तर-आत्मा में सुने, उनके लिये भी इच्छा करता हुआ कहता है, *"शृणुयाम शरदः शतम्"* कि मैं उस वाणी को भी सौ वर्ष तक सुनता रहूं। किन्तु साथ ही अब वह उपकार भाव जो सन्ध्या के आरंभ में चोटी गांठ लगाते हुए कहा था "धियो यो नः प्रचो-दयात्" अर्थात् हम सब की बुद्धियों को सुमार्ग पर लगाओ और "शंयोरभि स्रवन्तु नः" हम सब पर चारों ओर से सुख की वर्षा करो तथा "उद्वयम् तमसस्परि"—हम सब प्रकृति से ऊप

हो जावें, इन समस्त भावनाओं के साथ ही साथ यह भावना भी उत्पन्न होती है कि "*प्रब्रवाम शरदः शतम्*"–हम सौ वर्ष तक प्रभु के इस आनन्द रस का उपदेश भी करते रहें, और फिर अंत में यह कहा है कि 'हे प्रभो ! अब तो हम तेरे आश्रित हो चुके हैं' निर्भय हो चुके हैं, बड़ी कठिनाई से यह उत्तम अवस्था प्राप्त हुई है, अतः हे प्रभो ! "*अदीनाःस्याम शरदः शतम्*"–सौ वर्ष तक हम किसी के दीन भी न हों, इससे अधिक भी यदि हम तेरी कृपा से जीयें तो भी "*भूयश्च शरदः शतात्*" –हम अदीन ही रहें, अर्थात् हम प्रत्येक तीन प्रकार से अदीन रहें–(१) आध्यात्मिक अदीनता—विषयों के दीन न हों वरन् अपने मन के अधिपति रहें (२) मानसिक अदीनता—अपने से भिन्न विचार वाले राजा, आदि के भी दीन न हों, और (३) शारीरिक अदीनता—(अ) दूसरों के बल पर जीने वाले भी न हों, वरन् हमारा अपना बल आत्मविश्वास हो, (आ) आर्थिक अदीनता—स्वयं गुणवान रहें. कार्य व्यवहार, खेती क्यारी हमारे आधीन रहे, इत्यादि

अब इस मन्त्र की संगति तनिक 'ॐ वाक् वाक्' वाले दूसरे मन्त्र से करो, जहां पर साधक ने प्रभु से यश और बल मांगा है– १–वाक्, २–प्राण, ३–चक्षु, ४–श्रोत्र, ५–बाहु आदि का। वहां अब साधक उस बल को पार कर उसे चिरस्थायी करने के लिये उसी क्रम से १–'प्रब्रवाम' २–जीवेम, ३–पश्येम, ४–शृणुयाम, ५–अदीनाःस्याम शरदः शतम्' कह रहा है।

प्रभु उपासना का फल

उपासना अदीनता प्राप्ति की परम रसायन है (२) स्वाधीनता, निर्भयता, आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बना उपासक की दिव्य सम्पत्ति है।

दसवीं सीढ़ी

गायत्री मन्त्र-आत्म समर्पण

ओ३म् भूर्भुवःस्व । तत् सवितुर्वरेण्यम् भर्गो
देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(यजु ३६-३, ऋ० ३-६२-१०, साम० उ० ६-३-१०

इसके उपरान्त साधक भक्त उसी परम पुनीत, पतित पावनी त्रयलोक तारनी, कष्ट निवारनी, सावित्री गायत्री गुरु मन्त्र के द्वारा अपने आप को प्रभु चरणों में समर्पण कर देता है और प्रार्थना करता है कि "हे ईश्वर दयानिधे ! भवत कृपया ऽनेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यःसिद्धिर्भवेन्नः" हे दयानिधे ईश्वर ! जो जो उत्तम कार्य हम करते हैं, वह आपकी कृपा से करते हैं । जप उपासना आदि वह सब कर्म आपके ही अर्पण हैं कि जिससे *१–धर्म*, जो सत्य और न्याय का आचरण करना है, *२–अर्थ* जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, *३–काम*, जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और ४–मोक्ष, जो सब दुःखों से छूट कर सदानन्द में रहना है, इन चारों पदार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कृपया हमें शीघ्र प्राप्त कराइये ।

भीमसेन—यह मन्त्र आरम्भ में भी आया, बीच में भी और अब भी । एक ही सन्ध्या में इतनी बार क्यों ?

वनी—पहले और बीच का कारण तो मैं तुम्हें बतला ही चुका हूं, यहां अब उसके प्रार्थना शब्दों से उसका आशय आप ही

स्पष्ट हो रहा है, वह यह कि अब साधक गद्-गद् प्रसन्न होकर अपने आप को प्रभु-चरणों में समर्पण कर रहा है,जिससे आरम्भ किया, जिसके लिये किया था, अब उसी को प्राप्त करके उसी से ही अर्पण हो रहा है; अर्थात् जिस बुद्धि और तेज के द्वारा उसे यह सब प्रकृति, जीव और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुवा; जिस आशय से यज्ञोपवीत पहन कर तीन तारों के द्वारा इन तीनों विद्याओं का गायत्री गुरु मन्त्र से गुरु ने उपदेश किया था, उसी को फिर प्रभु की दात समझ कर प्रभुके अर्पण करता है। या यों समझो कि दाने या गुठली धरती से उत्पन्न होते हैं। यदि उनकी उपज प्राप्त करके उसे घर में रख लिया जावे, तो उसका सिलसिला समाप्त हो जायगा, किन्तु यदि उन्हें फिर उस धरती के अर्पण कर दिया जाय, तो वह फिर एक से अनेक होकर प्राप्त होते हैं॥

गायत्री मन्त्र की विस्तृत व्याख्या तो "गायत्रीरहस्य" नामक पुस्तक में हैं, उसे पढ़ लेना। किन्तु अब उस से कुछ अधिक और बता दूं। गायत्री शब्द का अर्थ ही गायत्री की महिमा को बतला रहा है अर्थात् भास्काचार्य जी ने निरुक्त में गायत्री शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है।

गायतो मुखाद् उदपतदिति गायत्री (७–१२)

अर्थात् 'गान करते हुए परमेश्वर के मुख से सब से प्रथम 'गायत्री' निकली, अतः इसका नाम 'गायत्री' है। अत्रि स्मृति में लिखा है:—

सावित्र्यास्तु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम्

अर्थात् गायत्री से बढ़ कर अन्य कोई मन्त्र नहीं है। यही

परम पवित्र करने वाला मन्त्र समझा गया है। शंख स्मृति में आया है कि:—

गायत्री वेद जननी, गायत्री पाप नाशनी।
गायत्र्याः परमं नास्ति, दिवि चेह च पावनम् ॥

अर्थात्, गायत्री वेद की माता है, गायत्री सब पापों को नाश करने वाली है, गायत्री से बढ़ कर पवित्र करने वाली द्युलोक और पृथिवी लोक में अन्य कोई वस्तु नहीं। इस से भी बढ़ कर शंख ऋषि ने इसका महत्त्व इस प्रकार लिखा है:—

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे।

अर्थात् 'जो लोग अपने पापों के कारण दुर्गति और दुःख के समुद्र में पड़े हुए हैं, उन्हें यह गायत्री देवी अपने हाथ का सहारा देकर उठाती है'॥

भीमसेन—आप गायत्री मन्त्र की बड़ी महिमा गाते हैं और ऋषि मुनियों के वाक्यों से भी उसका समर्थन करते हैं। यह कैसे पवित्र कर देती होगी ? यह कैसे पाप मोचनी और त्रयलोक तारनी है ?

वनी—बेटा ! कहा तो है कि विस्तृत व्याख्या के लिये 'गायत्रीरहस्य' पढ़ो ! हां ! इस उदाहरण से शायद कुछ तुम्हारी समझ में आ जाय, तो विश्वास कर लेना। मान लो, तुम्हें अपने घर के लिये बहुत से काठ (लकड़ी) के समान की आवश्यकता है। तुम स्वयम् अनजान हो और यह भी चाहते हो कि लागत कम आये। कोई बड़ा वृक्ष नीलामी में पूरा मोल ले लूं, तो सब

आवश्यकता पूरी हो जाय। अतः तुमने एक ईमानदार और सुयोग्य बढ़ई को साथ लिया और बन में एक बड़ा वृक्ष देखा। तुम्हारे बढ़ई ने वृक्ष को ऊपर से नीचे तक बड़े ध्यान से जांचा, उसके तने को नापा और कहा कि यदि सौ रुपये में भी यह वृक्ष मिल जाय तो भी सस्ता है। तुम चकित रह गये। दूसरे ग्राहक भी आ गये। तुमने उससे भी पूछा, तो उन्होंने कहा ५०) से अधिक मूल्य का नहीं। इञ्जिनियर साहिब आये। बोली दी तो लोग ६०) तक पहुँचे। साहिब ने कहा जाओ! नीलाम नहीं हो सकता। १२५) से कम नहीं मिलेगा'। अन्ततः १२५) में ही वह नीलाम हुआ। तुम्हारे बढ़ई ने कहा—सब ने अपनी दृष्टि से जो जांचकी थी, उस से इतने शहतीर, इतनी कड़ियां, इतने भाले आदि बनेंगे, ५००) का माल निकलेगा॥

ऐसे ही जौहरी स्वयम् जिस हीरे को देख कर उसका मूल्य १०,०००) कहता है,और उतने ही में मोल लेने को प्रस्तुत होता है, तो यह समझना चाहिये, कि वह हीरा उस मूल्य से बहुत अधिक का है। कारण, जौहरी की दृष्टि उस हीरे के आन्तरिक तत्त्व तक पहुँच चुकी है और उस दृष्टि को बड़े अभ्यास तथा अनुभव से प्राप्त किया है। ऐसे ही बढ़ई ने भी।

अतः जिन *दीर्घदर्शी ऋषियों* ने जन्म जन्मान्तर की तपस्या और मंत्रों के निरंतर कई वर्ष के मनन से उनके आन्तरिक रहस्य को जाना तथा लिखा है, उसमें जो ऐसी शंका की जाय तो बड़ी भूल है। इसे स्वयम् अभ्यास करके देखना चाहिये। जो काम आपने कार्य रूप से करके देखना हो, उसे विधि पूर्वक करके ही देखना चाहिये; केवल मौखिक बातों में ही न रह जाना चाहिये। बेटा! तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षा अध्याय,प्रथम बल्ली के १२वें मंत्र

में तो भू भूर्व:स्वः व्याहृतियों के सम्बन्ध में यहां तक लिखा है कि:-

ता यो वेद स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥

अर्थात् व्याहृतियां जैसे वर्णन कर रही हैं, वैसे उनको जो जानता है, वह ब्रह्म को जानता है। ब्रह्म भाव रूप स्वराज्य को प्राप्ति किये हुवे सर्व देवता उसके लिये बलिदान को लाते हैं ।

—०—

ॐ

ग्यारहवीं सीढ़ी

नमस्कार मन्त्र-प्रभु के चरणों में

ओ३म् नमः शंभवाय च, मयो भवाय च, नमः शंकराय च, मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च ॥य० १६–४१॥

अन्त में उपासक परमात्मा की कृपा, करुणा, महिमा तथा उपकार को स्मरण करके अगाध श्रद्धा तथा प्रेम से यह सब कुछ प्रभु की दात और दया समझ कर बारम्बार अपने सिर को उसके चरणों में झुका देता है, इस भावना से कि मेरे पास इस नम्र नमस्कार के सिवा प्रभु के भेंट धरने के लिये और कुछ नहीं है ।

प्रभो ! यह पुस्तक जो तेरी दात से लिखी गई है, तेरी ही भेंट है ।

(टेकचन्द प्रभु आश्रित)

—●—

ॐ

परिशिष्ट १

योग युक्त संयम

बेटा भीम सेन ! अब सारी सन्ध्या तो विद्वानों की पुस्तकों से पढ़ कर उनके अपने शब्दों में और कुछ अपनी अनुभूत बातों को मोटे मोटे शब्दों में तुम्हें बतला दी किन्तु एक बात यह स्मरण रक्खो कि:—

सन्ध्या के मंत्र कहने मात्र से कभी कार्य्य पूरा न होगा। इस के लिये मन को प्रति दिन ट्रेनिंग (Training सुशिक्षा) देनी चाहिये। यही सन्ध्या के समय भी दी जाती है। जो भी प्रयत्न से अपने मन पर यह सुसंस्कार डालेगा, वही उपर्युक्त अवस्था का अनुभव प्राप्त कर सकेगा, चाहे इसमें जितनी भी आयु लग जाय।

इसमें एक तो निचली कक्षा है—अपनी पड़ताल से पश्चात्ताप तथा धन्यवाद की।

दूसरी मध्यम कक्षा—ज्ञानी विद्वानों से ज्ञान तथा शिक्षा प्राप्त करके साधन करने की।

तीसरी उत्तम कक्षा है—अणु अणु में प्रभु की विचित्र लीला का भान करते हुये प्रभु में लीन हो जाने की।

धीरे धीरे जब मनुष्य सतत प्रयत्न करता रहता है तो एक

कक्षा से दूसरी कक्षा में पहुँच जाता है।

भीमसेन—महाराज ! आप कभी कभी कहा करते हैं, कि सन्ध्या के दूसरे मंत्र में पहले चार–वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र–तो खुले हुये हैं, और छिद्र वाले हैं और दूसरे चार—नाभि, हृदय, कंठ और शिर बंद हैं। इन्हें परमात्मा ने बाहर से डाट लगा कर बंद कर दिया है, और जब तक अन्दर के पट न खुलें, तब तक साक्षात् नहीं होता, फिर केवल बाहर के पट बंद कर देने से क्या लाभ ? किन्तु इस सम्बन्ध में आपने कहीं भी कुछ नहीं बतलाया। कृपा करके इसे भी समझावें।

वनी—बेटा ! इसका सम्बन्ध योग से है। ध्यान की अवस्था तक पहुंचा हुआ साधक इससे लाभ भी उठा सकता है और इसे समझ भी सकता है। फिर भी मैं तुम्हें समझाने का प्रयत्न करता हूँ। तनिक ध्यान से सब सुनना।

ध्यान टिकाने से पहले वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र का संयम परमावश्यक है, अन्यथा ध्यान न टिक सकेगा।

भीमसेन—यह संयम कैसे किया जाय ?

वनी–यम से (अ) खाने और बोलने का संयम करो। वाक् के संयम से '*अहिंसा*' व्रत में सफलता होगी। (आ) प्राण के संयम से '*सत्य*' में सफलता होगी (इ) चक्षु के संयम से अस्तेय में, श्रोत्र के संयम से '*ब्रह्मचर्य*' में, और इनके बिगाड़ से सब यम निष्फल हो जायेंगे।

नियम से–(अ) नाभि के संयम से '*शौच*'(आ) हृदय के संयम

से '*संतोष*' (इ) कंठ के संयम से '*तप*' (ई) शिर के संयम से '*स्वाध्याय*' (उ) करतल के संयम से '*अपरिग्रह*' और (ऊ) कर-पृष्ठे के संयम से '*ईश्वर प्रणिधान*' में सिद्धि होगी।

भीमसेन—महाराज ! मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आया कि यह संयम कैसे किया जाय ?

वनी—वाक् को नाभि में, प्राण को हृदय में, चक्षु को कंठ में, श्रोत्र को शिर में टिका दिया जाय। इन इन का परस्पर सम्बन्ध है:—

नाभि वाक्	} कर्म,	हृदय प्राण	} उपासना, और	कंठ, श्रोत्र चक्षु, शिर	} ज्ञान के

सूचक हैं।

भीमसेन—अब भी मेरी समझ में नहीं आया, इसका क्या सम्बन्ध है ?

वनी—मनुष्य को अधिक तंग करने वाली भूख और प्यास है, जो नाभि से पैदा होती है। जिह्वा को कंठ कूप में लगा देने और नाभि चक्र में ध्यान करने से भूख प्यास नहीं लगती और अपने वश में हो जाती है। यह भारी तप है जो ब्रह्मचर्य में सहायक है और उर्ध्वरेता होने का यह बड़ा अच्छा साधन है (२) मनुष्य जब गरमी से व्याकुल होता है, तो वह वायु की इच्छा करता है और वस्त्र खोल कर वायु के लिये अपना हृदय सामने कर देता है, इस से ही उसे शांति आ जाती है। वायु का स्वभाव सम रहना अर्थात् समता है, अतः प्राण को हृदय में टिकाने से मनुष्य में समता

उदारता एवं नम्रता आती है और संतोष आता है जो कि सत्य का सहायक है। (३) जब किसी को लज्जित करना हो, तो यह कहा जाता है कि अपने *गरेबान में दृष्टि डालो। ध्यान को विचलित करने वाली काम वृत्ति होती है। काम का स्थान आँख है, अतः चक्षु को जब कंठ में लगा दिया जाय, तो आंख नीचे को हो जायगी, जैसे लज्जावान् मनुष्य की आंख सदा नीचे रहती है। ऐसा करने से शरीर सम और मेरु दंड अपने स्थान पर फ़िट FIT=ठीक) हो जाता है। काम-वृत्ति आंख को उलटा देने से रुकती है, या नीचे गरेबान में कर लेने से। चूंकि आंख को उलटाना कठिन काम है और बल लगाने से हानि भी हो जाती है, अतः नीचे ही लगाना सुगम है। इससे काम-वृत्ति दबी रहती है। (४) श्रोत्र का सिर (ब्रह्मरन्ध्र) में संयम करने से अहंकार पर विजय होती है। जागृत अवस्था में जीव आत्मा आंख में होता है, स्वप्न समय कंठ में और मरण समय भी वह इसी कंठ की उदान वायु पर सवार होता है। आंख के ऊपर 'आज्ञा चक्र' और कंठ में 'विशुद्धि चक्र' है। इन दोनों के खुल जाने से 'ज्ञान नेत्र' खुल जाता है। 'जालंधर बंद प्राणायाम' इन सब का साधन है।

नाभि, हृदय, कंठ और सिर यह चारों 'चक्रस्थान' हैं। अग्नि जल, वायु और आकाश यह चारों 'तत्त्व' हैं। जिस साधक योगी के चक्र खुल जाते हैं, उसे इन तत्त्वों के रहस्य शीशे के समान उसके सामने आने लगते हैं, और उसकी परिस्थिति बहुत ऊंची हो जाती है। पृथिवी तत्त्व का रहस्य 'मूलाधार चक्र' से सम्बन्ध रखता है, जो रीढ़ की हड्डी के नीचे गुदा स्थान के ऊपर है।

*कुरते के गले को गरेबान कहते हैं।

वाणी जल स्थान, नाभि अग्नि स्थान, प्राण अग्नि और हृदय वायु स्थान, चक्षु तेज स्थान, कंठ जल स्थान, श्रोत्र और सिर दोनों आकाश स्थान हैं। अस्तु, यह बातें सूक्ष्म हैं। साधारण सन्ध्या करने वालों की समझ में नहीं आ सकतीं।

सब नवयुवक—अब कुछ-कुछ समझ में आया है, किन्तु केवल नाम मात्र। यदि महाराज! कृपा करके यह बतलादें कि इनका संयम कैसे किया जाता है तो बहुत अच्छा हो।

वनी—यह तो बेटा! बहुत ही कठिन वरन् असम्भव है। जब तक कोई पहली मंजिलें तै न कर ले, वह यह विधि कैसे सीख सकता है। तुम एफ़. ए. में पढ़ते हो, बड़े सुयोग्य हो, परन्तु इसे नहीं समझ सके। मैं स्वयम् हिचकिचाता था, कि समझाऊं तो कैसे समझाऊं और क्या समझाऊं? प्राणायाम तक भी जो न जानता हो, उसे आगे का क्या पता? फिर इन योग क्रियाओं या आत्मिक उन्नति में तो यम नियम का पालन बड़ा आवश्यक है। ब्रह्मचर्य तथा तप का जीवन हो। भला जो युवक या कोई और सिनेमा थियेटर देखने, अचार खटाई खाने, कंघी पट्टी करने, स्त्रियों के समान टेढ़े चीर (मांग) निकालने और सदैव शीशा जेब में रखने वाले हों, सिगरेट कभी मुख से ही न हटायें, छतरी के समान बाल कटवायें और टेढ़ी टोपी रखने वाले हों वह बेचारे इस मार्ग में कैसे पग रख सकते हैं? यह मार्ग तो धर्म मार्ग है। वीर धीर पुरुष ही इस मार्ग पर चल कर प्रभु की इस अद्वितीय दात के अधिकारी बन सकते हैं।

ओ३म्

परिशिष्ट २

सन्ध्या कोर्स

प्रभात हुई। वान-प्रस्थी जी अपने भजन ध्यान आदि से निवृत्त हुए, तो भीमसेन और विद्यार्थी आ पहुँचे और नमस्ते करके बैठ गये। वनी जी ने पूछा—भीमसेन! क्या हाल है? अब सन्ध्या क्रियारूप से करते हो न?

भीमसेन—नहीं महाराज! आज इसलिये आया हूँ कि ध्यान नहीं टिकता। कोई ऐसी विधि बता दें, जिस से ध्यान तुरन्त लग जाय। अब मैं एफ़. ए. में पढ़ता हूँ। अगले वर्ष बी. ए. में चला जाऊंगा। अब भी यदि ध्यान से सन्ध्या न हुई तो कब होगी? अब मैं बच्चा थोड़ा ही हूँ, कि वैसे ही रट लिया करूं।

वनी—बेटा! सब को सन्ध्या अपनी अपनी अवस्था अनुसार करनी चाहिये, तभी सफलता होती है। आयु में बड़ा होने से, बड़ों के समान सन्ध्या नहीं करनी चाहिये। द्रव्य का धनी होने से, बड़ों के समान सन्ध्या नहीं करनी चाहिये। न बल अथवा विद्या में ही बड़ा होने से बड़ों के समान सन्ध्या करनी चाहिये। इन सभी को पहले छोटों के समान ही सन्ध्या करनी चाहिये।

समाधिस्थ अवस्था में आंख, कान और मुख मूंद कर वही बैठ सकता है, जो आयु आदि में बड़ा होने की जगह

अनुभव में बड़ा है, क्रिया शील है। धन में बड़ा होने की जगह मन का धनी है। ज्ञानी (निर्लोभी) है, जिसे मोह और शोक न दबा सकें। बल में बड़ा न हो कर जो संकल्प में बड़ा है। जो भी संकल्प करता है उसे पूर्ण करके ही छोड़ता है। ऐसा बड़ा आदमी ही समाधि लगा सकता है। बच्चे की अवस्था से ही उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये एक दम ही नहीं। मेरी तो यही सम्मति है, अन्यथा कभी किसी को सफलता नहीं हो सकती।

भीमसेन—फिर वैसे ही आरम्भ कराइये, महाराज !

वनी—बेटा ! तुम तो रहते हो कालिज में। कुछ दिन के लिये आये हो। इतने में तो नहीं सीख सकते। हाँ ! मैं तुम्हें सन्ध्या का पूर्ण कोर्स (Course पाठ्यविधि) और स्कीम (Scheme क्रिया प्रणाली) बता दूं, उसके अनुसार जैसे-जैसे अवस्था बनती जाय, उन्नति करते रहो।

भीमसेन—बहुत अच्छा ! बतलाइये।

वनी—सन्ध्या सिखाने का कोर्स बनाकर सिखाया जाय, जैसे पाठशालाओं और कालिजों में प्राइमरी, मिडिल, एंट्रैन्स, एफ. ए., बी. ए; और एम. ए. की श्रेणियां हैं।

शिशु वर्ग

बच्चों को केवल पाठमात्र सन्ध्या के मन्त्र याद कराये जायें, और प्रतिदिन प्रातः सायं रटाये जाया करें। शब्दोच्चारण शुद्ध कराया जाय। जब तक शुद्ध शब्दोच्चारण न कर सकें और एक साथ सब की आवाज़ न निकले, तब तक इसी श्रेणी में रहें।

शब्दों का उच्चारण शुद्ध हो जाय और सब की ध्वनि एक हो जाय तो आगे बढ़ें। यह प्राइमरी क्लास है। दूसरी बात यह भी सिखाई जाय, कि निद्रा से जाग कर *हाथ मुंह कैसे धोया जाय और स्नान कैसे करना चाहिये ?

शौचादि से निवृत्त होकर सन्ध्या के दूसरे मन्त्र के क्रम से पहले मुख से कुरला (कुल्ली) करें फिर नाक साफ़ करें, फिर आंखे धोयें। दातन जल के साथ करें। गन्दगी खुली न रहे, मिट्टी से ढक दें, जल में भी न डालें। स्नान करते समय तीसरे मन्त्र के अनुसार पहले सिर को भिगोयें, फिर आंख नाक मुख को मलें, फिर पेट को मलें, फिर टांगें और पैर। फिर सिर को जल के नीचे करें या शरीर पर जल डालें। जब तक शारीरिक शुद्धि का ठीक ढग न आयेगा, सन्ध्या से मन की शुद्धि कैसे करेंगे।

---

*निद्रा से उठते ही तुरन्त आंखें धोनें से कच्ची पड़ कर दृष्टि कम हो जाती है, और निद्रा से उठते ही जल पी लेने से जुकाम (नजला) हो जाता है ! शौच के समय कान पर यज्ञोपवीत चढ़ा लेने से धातु प्रमेह रोग (जरियान) नहीं होता वायु का बहाव देख कर शौच को बैठना चाहिये। लघुशंका के समय जल ले जाना चाहिये और शंका मिटाने के पश्चात् मूत्रेन्द्रिय को ठंडे जल से धोना चाहिये, इस से स्वप्न दोष नहीं होने पाता। सूर्य की ओर मुख करके दातन नहीं करना चाहिये। कंठ में दातन करने से जब आंख से जल निकलता है, यदि सूर्य की किरण उस समय आंख पर पड़ जाय, तो किसी समय मोतिया बिंदु हो जायगा।

कुमार वर्ग

गायत्री मन्त्र से चोटी में गांठ लगवानी चाहिये। 'शन्नो देवी' से आचमन, आगे अंग स्पर्श, मार्जन करा के प्राणायाम् की जगह तीन वार गहरे लम्बे सांस लेने (Deep breathing) की क्रिया कराई जावे। फिर "ऋतंच सत्यञ्च" के उपरांत ,शन्नो देवी' से आचमन और गायत्री मन्त्र अर्थ सहित तथा प्रार्थना पश्चात्ताप सहित कहलवाई जावे। मनसा परिक्रमा उपस्थान मन्त्र पाठ रूप से करा कर, गायत्री मन्त्र और समर्पण बोल कर, "नमः शिवाय च" पढ़ाया जाय। यह मिडिल क्लास समझी जाय। उच्चारण सबका शुद्ध हो

युवक

इन्हें अब अदना दर्जे का प्राणायाम सिखाया जाय। एक श्वास में एक मंत्र पूरक, कुम्भक, रेचक, एक एक मन्त्र। आरम्भ में लम्बा सांस (Deep breathing) तीन बार करा के मिडिल के समान आरम्भ कराया जाय। भेद केवल इतना हो कि मार्जन के उपरान्त प्राणायाम चुपचाप करें। फिर "ऋतञ्च सत्यञ्च" का पाठ आरम्भ हो, किन्तु मन्त्रों के अर्थ साथ साथ बोलें। मन्त्र सब सज्जन बोलें, अर्थ एक एक बारी बारी से कहें और शेष सब मन में ही साथ साथ कहते जावें। मनसा परिक्रमा से पहले गायत्री भी सब चुपचाप दिल में बोल कर पश्चात्ताप की प्रार्थना करें और नमः शिवाय च, से पहले गायत्री मन्त्र के पश्चात् समर्पण प्रार्थना भी सब मन में ही करें। यह है मैट्रिक क्लास।

गृहस्थी अथवा कालजियेट

इनकी सन्ध्या इकट्ठी न हो, एकांत (अकेले) में ही चाहिये।

यह सब समझदार हैं। कालिज वाले भी प्रायः सब विषयों की अपनी तैयारी एकांत में ही जाकर करना पसंद करते हैं। यहाँ से ही वास्तविक सन्ध्या आरम्भ होगी। आसन लगा कर बैठें, सम अवस्था में सीधे होकर आंखें मून्द लें, प्राणायाम कर के बैठ जांय। यह अभ्यास करें कि उनका शरीर बिना हिले जुले रहे। बाहर से मुख पर मक्खी बैठे, मच्छर कहीं काटे या बैठे, या अन्दर से कहीं खुजली हो, न मक्खी को हाथ से उड़ायें, न मच्छर को, न खुजली करें, वरन् उस स्थान में अपना ध्यान ले जावें। प्राण रोक लें, मक्खी उड़ जायगी, खुजली का विचार हट जायगा। वह अभ्यास हठ तथा धैर्य्य से करना पड़ेगा? धारणा कर लें, कि ५ मिनट, फिर १० मिनट, फिर २० मिनट, फिर आधा घन्टा तक हम अपने आप को निश्चल बना लेंगे।

अब जब ऐसी अवस्था बन जावे, तो मन उनका अपना बनने लग जावेगा, इन्द्रियों पर कंट्रोल (Control काबू) होने लगेगा। अपने ऊपर आये हुये कष्टों को भी वह अपने संकल्प (ध्यान) मात्र से हटा सकेंगे। धीरता और गम्भीरता आती जायगी।

फिर अब गायत्री मन्त्र से चोटी को ऊपर खींच कर, संवार कर गांठ दें और यह भावना करें कि हम अपनी बुद्धि को आत्मा के साथ जोड़ कर प्रभु के दरबार में शांति का प्रसाद पाने के लिये उपस्थित होते हैं। अब मन्त्र को प्रेम से, होठों में स्वर से (जैसे पहले करते रहे हैं) उच्चारण करें और शब्द के स्वर में अपने ध्यान को टिका दें। जिस मन्त्र पर वृत्ति बदल

जाय, फिर आरम्भ से सन्ध्या करने लगें। जैसे 'शन्नो देवी' से "ऋतञ्च सत्यञ्च" पर जाकर "तपसोध्यजायत" पर मन की वृत्ति कहीं और चली गई है, तो अब "शन्नो देवी" से फिर आरम्भ करें, इसी प्रकार जहां भी वृत्ति निकले, फिर से लौट कर आरम्भ करें, सन्ध्या के मन्त्र पूरे करने की कोई आवश्यकता नहीं। अभिप्राय तो ध्यान टिकाने से है। आवश्यकता तो मन पर विजय पाने की है। समय नियत कर लें कि आध घंटा सन्ध्या के लिये है। अब आध घन्टे में चाहे दो ही मन्त्र हों, चाहे पूरी सन्ध्या हो जावे। इसी प्रकार अभ्यास करता रहे। यह है एफ. ए. क्लास। जब तक एक चित्त होकर सन्ध्या पूरी न हो जाय, तब तक यही श्रेणी रहेगी।

बी. ए.—अगली कक्षा बी. ए. की है। जैसे पीछे मंत्रों की भावना और अर्थ बतलाये गये हैं वैसे ही क्रिया करते हुये समाधिस्थ अवस्था में योगी के समान मन्त्र के शब्दार्थ भाव में लीन हो जावें इसमें भी समय नियत हो, चाहे एक मंत्र में तल्लीन होकर ही समय पूरा हो जावे या दस तक। धीरे-धीरे सारी संध्या इस प्रकार पूरी करलें, चाहे कितने वर्ष लग जावें। नियम पूर्वक अपनी इन्द्रियों के कर्मों का आत्मनिरीक्षण पश्चात्ताप आदि सब करें। जब यह समाप्त हो जायगा, तब अपना अन्तःकरण उज्जवल दिखाई देने लगेगा और ध्यान टिक जाया करेगा। बुद्धि तीव्र हो जायगी। पाप की ओर वृत्ति नहीं दौड़ेगी और शुभकर्मों में ही सदा बनी रहेगी। संध्याध्यान का नशा ऐसा चढ़ेगा कि सन्ध्या के समय अपने आप और कोई काम नहीं सूझेगा। जैसा कि अफीमी को जिस समय सिर में खुमार चढ़ने लगता है तो वह सब काम छोड़

देता है और अफीम की खोज करता है, या जैसे दोपहर को जब भूख खूब लगती है, तो कोई काम सिवाय रोटी के मीठा नहीं लगता। ऐसे ही यह अवस्था बन जायगी। तदनन्तर प्राण उपासना द्वारा भक्ति करना या निर्गुण उपासना करना यह एम. ए. की श्रेणी होगी।

यह है कोर्स। यदि पाठशालाओं में, विद्यालयों में, गुरुकुलों में, कालिजों में या प्राईवेट तौर पर समाज वाले आप भी और अपनी सन्तानों से भी इसके अनुसार आचरण करायें तो एक दिन अवश्य ध्यान टिक जाये और हमारा जीवन सुधरने लगे। अन्यथा जैसे अब पचास वर्ष तक वही रटन और वही पहली श्रेणी है ऐसे सौ वर्ष तक भी चली जायगी।

ओ३म्

परिशिष्ट ३

संध्या मन्त्र तथा भावार्थ

भीमसेन—महाराज ! एक साधारण व्यक्ति जिसे सन्ध्या के मन्त्र तो आते हैं किन्तु शब्दार्थ नहीं जान सकता, उसके लिये सुगम भावार्थ क्या हो सकते हैं जिन्हें वह मन्त्र के साथ साथ प्रार्थना रूप में भी प्रकट कर सके ? कारण समस्त सन्ध्या तो साधक की भिन्न अवस्थाओं का बखान करती है। जिसे अभी प्रभु की ज्योति का भान भी नहीं हुआ, वह उसमें मग्न कैसे होगा ? अतः यह भावार्थ बतलाने की कृपा भी अवश्य कीजिये।

वर्नी—अच्छा ! वह भी सुन लो। (गायत्री मन्त्र से चोटी की गांठ लगा कर):—

१—आचमन मन्त्रः—ॐ शन्नोदेवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयो रभिस्रवन्तु नः ॥

भावार्थ—हे कल्याण कारी प्रभो ! मेरे हृदय में अपनी सब व्यापकता का विश्वास तथा प्रकाश दो। दिव्य गुण और सुखों की वर्षा करो और आसुरी गुण दूर करो।

२—अंग स्पर्श मन्त्रः—

ॐ वाक् वाक्—प्रभो मेरी वाणी को जीवित वाणी बनाओ यशस्वी और बलवान वाणी बनाओ। अपने आधीन चलाओ सत्य वादिनी, प्रिय वादिनी, शुभ वादिनी बनाओ। वह कभी कटु, कठोर, असत्य, असभ्य और अशुभ न बोले। किसी को दुख न पहुंचाये, मिथ्यावाद विवाद न करे। सब को शान्त तथा सन्तुष्ट करने वाली हो।

ओम् प्राणः प्राणः—प्रभो ! मेरे प्राणों को सुरक्षित रक्खो, श्वास श्वास तेरे अर्पण हो और दूसरों के प्राण तथा स्वास्थ्य रक्षा का बल दो।

ओम् चक्षुः चक्षुः—प्रभो ! मेरी आँखों को विश्वामित्र बनाओ तथा लज्जा से भरपूर रक्खो।

ओम् श्रोत्रम् श्रोत्रम्—प्रभो ! मेरे कान सदा भला सुनें और दीन दुखियों की पुकार पहचानें।

ओम् नाभिः—प्रभो ! मेरी समान वायु को बलवान करो और नाभि को यज्ञ रूप बनाओ।

ॐ *हृदयम्*—प्रभो ! मेरे हृदय में उदारता और नम्रता हो और इसमें आपका निवास स्थान हो ।

ॐ *कण्ठ* :—प्रभो ! मेरे कण्ठ की मधुरता दीन दुखियों को रिझाने वाली और उनका दुख दूर करने वाली हो ।

ॐ *शिर*:—प्रभो ! मेरे मस्तिष्क में सुविचार और अपना तेज दीजिये जिस से मैं अपना और दूसरों का भला कर सकूँ ।

ओं *बाहुभ्यां यशोबलम्*:—प्रभो ! मेरे बाहुओं में बल दो जिससे मैं आततायी बलियों को लय कर सकूं और निर्बलों को आश्रय दूं ।

ॐ *करतलकरपृष्ठे*—प्रभो ! मेरा सब ग्रहण तथा त्याग आप के आधीन हो ।

३—मार्जन मन्त्रा :—

ॐ *भूः पुनातु शिरसि*—हे रक्षक पिता ! मेरे सदाचार को पवित्र करो ।

ॐ *भुवः पुनातु नेत्रयोः*—हे दुख विनाशक प्रभो ! मेरी ज्ञान इन्द्रियों तथा विचारों को पवित्र करो ।

ॐ *स्वः पुनातुकंठे*—हे सुख स्वरूप ! मेरे स्वत्व की रक्षा करो ।

ॐ *महःपुनातु हृदये*—हे महान् प्रभो ! मेरे हृदय में अपनी महानता और उदारता दो और इसकी कुटिलता, कठोरता और कृपणता को दूर करो ।

ओम् *जनः पुनातु नाभ्याम्*—हे जननी ! मेरे ब्रह्मचर्य्य की रक्षा करो ।

ओम् *तपः पुनातु पादयोः*—हे सामर्थ्य शाली प्रभो ! मेरा जीवन

तपोमय बनाओ।

ओ सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि—हे सत्य स्वरूप! मेरे जीवन को सत्य से पवित्र करो।

ओ खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र—हे आश्रय दाता! मेरी समस्त इन्द्रियां तुम्हारे सहवास से पवित्र हों।

४—प्राणायाम मन्त्र :—अर्थ तीसरे मन्त्र के प्रत्येक पद के पूर्व में हैं।

विधि—साधारण प्राणायाम

पहले दोनों नासिकाओं से बल पूर्वक 'रेचक' करना (श्वास बाहर निकालना) चाहिये और इस एक श्वास में एक बार यह मन्त्र कहना चाहिये। फिर 'कुम्भक' (बाहर की श्वास रोक) कर के मन्त्र का एक बार पाठ करे, फिर 'पूरक' करता हुआ अन्दर श्वास खेंचता हुआ एकबार मंत्र पढ़े और फिर अन्दर ही श्वास रोक कर एक बार मन्त्र पढ़कर कुम्भक पूरक करे। ऐसे तीन बार प्राणायाम करने से १२ बार मन्त्र का पाठ हो जायगा*

५ से ७ तक—अघमर्षण मन्त्राः—

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥

* (विशेष साधन विधि के लिये 'योगयुक्ति' लेखक की उर्दू पुस्तक का स्वाध्याय करना चाहिये।)

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे सर्व अन्तरयामी सर्वनियंता प्रभो ! सारा संसार तेरे ही आश्रय है और मैं भी तेरा ही आश्रित हूँ। मुझे आशीर्वाद दो कि मुझ से कोई पाप न होने पावे और जो पाप मैंने किये हैं, उनका दण्ड भोगने के लिये मैं सदैव तैयार रहूं। प्रभो ! मुझे बल तथा धैर्य्य प्रदान कर जिस से मैं जन्म जन्मान्तर में न खिंचा फिरता रहूँ और इस जन्म में ही सब दण्ड सहन करके उऋण हो सकूँ।

मनसा परिक्रमा मंत्राः--

८--ओम् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भेदध्मः ॥१॥

भावार्थ—जिस मोह के बन्धन में मेरे मन की अवस्था काली पड़ गई है और तेरे प्रकाश को रोके हुए है, हे अग्नि देव प्रभो ! उसे मैं आदित्य ज्ञानी पुरुषों के सत-संग और आपके आशीर्वाद से हटा सकूं।

मैं किसी से द्वेष न करूं, यदि कोई मुझ से द्वेष करे भी तो उसके बदले का विचार मुझे स्वप्न में भी न आये। मैं उसे तेरे न्याय पर छोड़ दूँ। तू अपनी दया से उसे दग्ध कर के आपस में हमारी प्रेम प्रीती बढ़ा दे।

९—ॐ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो...

टेढ़ी चालों से मेरे आत्मा को बन्धन है, हे इन्द्र भगवान्! आप के आशीर्वाद तथा अनुभवी ज्ञानी पितरों द्वारा मेरा वह बन्धन दूर हो कर मैं शुद्ध होऊं। मैं किसी से द्वेष......

१०—ॐ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिता-न्नमिषवः। तेभ्यो...

भावार्थः—जिस काम-रूपी "पृदाकू" अजगर ने मेरी श्रेष्ठता को गिरा दिया है उस काम (अजगर) से मेरी रक्षा करने वाले 'वरुण' (श्रेष्ठ) प्रभो! कामजित् संन्यासियों के उपदेशों द्वारा और आप के आशीर्वाद से मेरा यह काम मेरे वश में हो। मैं किसी से द्वेष......

११—ॐ उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता-शनिरिषवः। तेभ्यो...

भावार्थः—हे सोम देव! जिस क्रोध ने मेरी सौम्यता का नाश कर रक्खा है, योगियों के सहवास और आपके आशीर्वाद से मेरा वह क्रोध शांत हो कर सौम्यता का वह मुझे रस प्राप्त हो। मैं किसी से द्वेष......

१२—ॐ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो...

भावार्थः—जिस अहंकार से मेरी दृढ़ता, गम्भीरता और धीरता में चंचलता आती है, हे सर्व व्यापक विष्णु भगवान्! आपके आशीर्वाद और उन ब्रह्मज्ञानियों और तपस्वियों के संग से, जिन्होंने प्रकृति से ऊपर उठ कर इस अहंकार का साक्षात

किया है, मेरा वह अहंकार भी विश्व अहंकार हो जाय। मैं किसी से द्वेष......

१३—ॐ ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रोरक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो...

भावार्थः-हे ज्ञान के अधिष्ठाता बृहस्पति देव! आप सात्विक विद्या का प्रसाद दे कर मुझे भी पूर्ण सात्विक बनाइये। मैं किसी से द्वेष......

उपस्थान मन्त्र—

१४—ओम् उद्वयन्तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

हे प्रभो! प्रकृति की तम अवस्था से मेरा उत्थान करो और मुझे मेरे आत्मस्वरूप में स्थिति दो तथा अपनी उत्तम ज्योति के दर्शन कराओ।

१५—ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम्॥...

भावार्थः-हे प्रभो! मैं अणु अणु में आप की सर्वव्यापकता का भान करूं।

१६—ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

भावार्थः—हे प्रभो! आप की विचित्र ज्योति, तेज

और यल सभी जगह विस्तृत हैं, मुझे भी उन से तेजवान् व प्रकाशित कर दो।

१७–ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४॥

भावार्थः—हे प्रभो! आप के प्रकाश में मैं सौ वर्ष तक देखूं, सौ वर्ष तक जीयूं, सौ वर्ष तक सुनूं, सौ वर्ष तक बोलूं, सौ वर्ष तक अदीन रहूं, और इस से अधिक भी ऐसा ही रहूं।

१८–गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

भावार्थः—हे प्राणदाता, दुःखनाशक सुखस्वरूप! मैं आप को वर कर अपने आप को आप के समर्पण करता हूँ, जिस से कि मैं आप के भर्गः स्वरूप को धारण कर सकूं। मेरी बुद्धि के आप ही सवितः हैं। इसे अपनी इच्छा के आधीन चलायें।

१९–नमस्कार मन्त्र (झुक जाओ)

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च। मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च

भावार्थः—हे शान्तिस्वरूप प्रभो! आप को नमस्कार है।

हे सुखस्वरूप प्रभो ! आप को नमस्कार है ।
हे दूसरों को शान्ति देने वाले ! आपको नमस्कार है ।
हे दूसरों को सुख देने वाले ! आप को नमस्कार है ।
हे सब के कल्याणकारक ! आप को नमस्कार है ।
हे अधिक से अधिक कल्याणकारक ! आप को नमस्कार है ।

ॐ शांति ! शांति !! शांति !!!

टेकचन्द, प्रभु आश्रित

हमीरपुर (कांगड़ा) १६-७-४०
पूर्णमासी को व्रत समाप्त हुआ ।

विश्व कल्याण के लिये प्रार्थना

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत् ॥

सब का भला करो भगवान् ! सब पर दया करो भगवान् !
सब पर कृपा करो भगवान् ! सबका सब विध हो कल्याण!!

सन्ध्या सोपान (अशुद्धि पत्र)

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२	३	प्रकार	प्रकार की
३	२०	जाता	जाते
४	१	होती भी,	होती थी,
५	६	सिर्रे हक,	सर्रे हक,
८	२०	"सोमरस"	"सोम सरोवर"
८	२३	लेये में	लिये
६	८	ऊँ शम्	ॐ शम्
१५	७	निश्चित	निश्चिन्त
१७	१	भजन	भोजन
१७	६	भेरे	मेरे
१७	१३	पोतषण	पोषण
१८	८	बढ़े	बड़े
१६	८	निश्चित	निश्चिन्त
१६	१५	इमं में	इमं मे
२६	२३-२४	गुणों वर्णन	गुणों का वर्णन
२६	२०	इत्यिादि	इत्यादि

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
३३	१५	कभी,	कमी
३४	१६	थिरी अप	थी अप
३५	४	डला	डाला
३७	१६	मीठा झाड़	मीठी झाड़
४०	६	महारा	महाराज
४०	१४	भीससेन	भीमसेन
४२	७	ध्ययति	ध्यायति
४३	२०	१-१२	१।१२
४६	७	प्रमाव	प्रभाव
४८	१	सरकार	साकार
४८	११-१२	(सत्-बिल जात)	(कायम-बिल-ज़ात)
५०	१६–२१	ढूंड़ने	ढूंढने
५१	१६	संकत	संकेत
५४	७	तैयारी हैं।	तैयारी है।
५५	६	हिंसा के बचने	हिंसा से बचने
६०	११	(लाज़िम मलजोम)	(लाज़िम मलज़ूम)
६१	१८	सब अपने जैसा	सबको अपने जैसा
६२	३	आदमी जो समय	आदमी को जो समय
६२	१७	और ओर	और
६३	२४	Thoughte	Thoughts
६३	२५	और ही	और वही
६५	१	रखने क	रखने का

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
६६	अन्तिम	झाड़	झाड़
७१	७	खेंचता	खेंचना
७८	५	उल्लहस	उल्लास
८०	२२	वेत्र	वेतु
८१	६	समा	समान
,,	,,	ना	सेवन
८२	५	सो	हो।
८२	१६	धातो	धातु
,,	,,	कुशा	कुशा पर
८३	२१	रोग हो	रोग दूर हो
८६	१	पर	पर प्रभाव
८७	४	मत्त	मोक्ष
८९	१	सकती।	सकती है।
९१	१२	छने	छूने
९६	६	उस	उसे
९६	२०	लगता	लगाता
१००	७	कम	कर्म
१०६	१६	ताकीद	ताईद
१०७	६	दार्थ	पदार्थ
१०८	१७	श्रोत	श्रोत्र
१११	१०	करो	को
११२	१६	को	जो

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
११२	२०	शरीर	शिर
११४	२१	जायखा	जायगा
११७	४	दवा	दया
१२३	१६	में	हैं।
१२६	१२	बतलाते	बतलाये
१६६	१३	बढ़ाया	बढ़िया
१७०	२०	लगाओःर	लगाओ
१७३	१६	भास्काचार्य	यास्काचार्य
१७५	६	उससे	उनसे
१७५	११	भोल	फाले
१८४	१२	ढग	ढंग
१६१	१४	(उलटा लिखा है)	रोक कर एक
१६१	फुट नोट	उर्दू पुस्तक	हिन्दी पुस्तक
१६२	१४	जम्मे	जम्भे
१६३	३	आत्मा को	आत्मा को लोभ का

ॐ

1340/2

प्रचारार्थ—केवल भाषार्थयुक्त

सन्ध्योपासनविधिः

महर्षिदयानन्दकृत

(पञ्चमहायज्ञविधि तथा संस्कारविधि से उद्धृत
प्रार्थनाग्निहोत्रमन्त्रसहित)

❀ इस संस्करण की विशेषता ❀
ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थसहित, शुद्धपाठ, सुन्दर
छपाई, बढ़िया कागज़, लागत से कम मूल्य

रामलाल कपूर ट्रस्ट
गुरुबाज़ार, अमृतसर

ट्रस्ट का उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार

ट्रस्ट का कार्य

स्वर्गीय श्री पूज्य ला० रामलाल जी कपूर की स्मृति में स्थापित इस ट्रस्ट ने २१ वर्षों में आर्यजनता की जो सेवा की है उसका फल निम्नलिखित ग्रन्थ हैं, जो अब तक छप चुके हैं—

(१) सन्ध्योपासनविधि (ऋषिदयानन्दकृत)
(२) सन्ध्योपासनविधि* „ „ भाषा } २८००००
(३) पञ्चमहायज्ञविधि „ „ ५५०००
(४) आर्याभिविनय „ „ ३३०००
(५) व्यवहारभानु १५०००
(६) आर्योद्देश्यरत्नमाला २५०००
(७) हवन मन्त्र १००००
(८) यजुर्वेदभाष्य (ऋषिदयानन्दकृत) श्री० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासुकृत विवरण सहित १०००
(९) ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार श्री पं० भगवद्दत्त जी बी.ए. १०००
(१०) Vedic Anthology (वेदों के कुछ सूक्तों का अंग्रेजी में अनुवाद) श्री स्वा० भूमानन्द जी एम० ए० कृत। १०००
(११) मङ्गलप्रभात—ले० श्री पू० महात्मा गान्धीजी ५०००
(१२) वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत स्वोपज्ञव्याख्यासहित (व्याकरण का प्राचीन ग्रन्थ) सम्पादक श्री पं० चारुदेव जी एम० ए०।
प्रथम काण्ड द्वितीय काण्ड भा० १ ५००

शेष ग्रन्थों की सूची अन्त में दी है।

---

* कई सज्जनों के अनुरोध से भाषार्थ सन्ध्या के साथ में संस्कारविधि तथा पञ्चमहायज्ञविधि से उद्धृत करके प्रार्थनामन्त्र, हवनमन्त्र तथा दो एक भजन भी दे दिये हैं; जो सन्ध्या के अङ्ग नहीं हैं। हमारा इस संस्करण पर लगभग १०) सैकड़ा व्यय हुआ है।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला नं० २

प्रचारार्थ

सन्ध्योपासनविधि

प्रार्थनाग्निहोत्रमन्त्रसहित
महर्षि दयानन्दकृत पञ्चमहायज्ञविधि तथा
संस्कारविधि से उद्धृत

प्रकाशक
हंसराज कपूर
मंत्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट
गुरुबाज़ार अमृतसर

अब तक दो लाख ८० हज़ार छपी

सातवीं बार (हिं० सं०) २५,००० | मार्गशीर्ष २००७ दयानन्दाब्द १२६ | मूल्य -)॥

मुद्रक—बालकृष्ण शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज काशी

अग्निहोत्र-सम्बन्धी विशेष-सूचना

१—अग्निहोत्र करते समय यथासम्भव परिवार के सभी स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकायें सब नियत समय पर पहुँच जावें।

२—यज्ञ का स्थान पृथक् नियत रहे। यज्ञशाला, यज्ञपात्रादि प्रतिदिन शुद्ध करने चाहिये।

३—एक कुल्हाड़ी समिधाओं के लिये प्रत्येक आर्य परिवार में अवश्य रहे। सत्यार्थप्रकाश-प्रदर्शित यज्ञ के पञ्चपात्र भी अवश्य रखने चाहिये। इसके सम्बन्ध में विशेष जानना आवश्यक हो तो पत्र-व्यवहार द्वारा जाना जा सकता है।

४—अग्नि का प्रज्वालन दियासलाई से नहीं करें—कपूर धूप गरी वा रूई की बत्ती पतली समिधा पर लपेट कर यद्वा गृह की शुद्ध अग्नि से करना चाहिए।

५—किसी संस्कार में कोई भी विधि संस्कारविधि के विपरीत न करें, न करने दें, न न्यूनाधिक करें। 'इदं न मम' से गिलासादि में घृत के बिन्दु विधि विपरीत होने से सर्वत्र न डालें।

६—हवन-सम्बन्धी सभी सामान एक बक्स में रखना चाहिए, इससे प्रतिदिन १० मिनट में हवन आनन्दपूर्वक हो जाता है।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

आध्यात्मिक चिन्तन के कुछ निर्देश

प्यारे प्रभु से मिलाप का सुन्दर सरल साधन सन्ध्या है। ऋषि दयानन्द ने वेद मन्त्रों का ऐसा संगठन बनाया है कि इन के द्वारा यदि विधिपूर्वक उपासना की जाय, तो शरीर स्वस्थ रहता है, मन वश में होता है, इन्द्रियां जीवन-यात्रा के वास्तविक उद्देश्य की ओर ले जाने में सहायक बन जाती हैं, और आत्मा प्रभुदर्शन का अधिकारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में अनुभव की कुछ बातें लिखता हूँ:-

(१) सन्ध्योपासना करने का निश्चित स्थान होना चाहिये। प्रति दिन एक ही आसन में बैठना चाहिये।

(२) सन्ध्या प्रारम्भ करने से पूर्व यह दृढ़ संकल्प करना बड़ा लाभ देता है कि—मेरा इस समय बाह्य दुनिया और दुनिया की वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अब केवल प्रभु के द्वार पर बैठा हूँ. उसी से वार्ता करूँगा, अपनी टेर सुनाऊंगा और आशीर्वाद लूंगा। ऐसा विचार बना कर सन्ध्या प्रारम्भ कीजिये।

(३) एक आवश्यक तैयारी कर लीजिये—सन्ध्या करते समय हमारे अन्दर न तो तमोगुण प्रधान होना चाहिये, न ही रजोगुण, अपितु सत्त्वगुण प्रधान होना चाहिये। यदि सन्ध्या समय सूर्य स्वर वेग से चल रहा है तो मन अधिक चञ्चल रहेगा, और उपासना में आप को तन्मय नहीं होने देगा, इसे परिवर्तन करना आवश्यक है। उसका साधन यह है कि अपने बायें (वाम) हाथ की मुट्ठी बन्द करके दायीं (दक्षिण) कुक्षि में रखकर ऊपर से दबाव डालिये तथा दक्षिण ओर कुछ झुक जाइये, थोड़े ही समय में सूर्य स्वर बन्द होकर चन्द्र स्वर चलने लगेगा, जब चन्द्र स्वर चलने लगे तो फिर सीधे बैठ कर, ग्रीवा तथा पीठ को सर्वथा सीधा रखकर इतना लम्बा श्वास भीतर ले जाइये कि वह नाभि के नीचे तक जा पहुँचे और बिना किसी बिलम्ब के श्वास को वेग से बाहर फेंक दीजिये, श्वास को बाहर धकेलते हुए पेट को सिकोड़ते जाइये, पश्चात् श्वास भीतर ले जाइये, और उसी प्रकार बाहर

फेंकिये। यह एक प्रकार का भस्त्रका प्राणायाम है। ३—४ मिनट ऐसा करने से फिर न सूर्य स्वर चलेगा, न चन्द्र स्वर, अब स्वर सम हो गया है, प्राण अब सुषुम्णा द्वारा कार्य करने लगा है। यही ऐसा अनुकूल समय है जब उपासना सफल हो सकती है, अब सत्त्वगुण प्रधान हो चुका है, ऐसी अवस्था में चंचल मन भी शान्त हो जाता है।

(४) सन्ध्या करने से पूर्व मन्त्रों के यदि सारे अर्थों का न सही तो न्यून से न्यून मन्त्रों के भावार्थ तो अवश्य हृदयंगम कर लेने चाहिये।

(५) सन्ध्या के मन्त्रों का कण्ठ से नहीं, मन से उच्चारण करना अधिक लाभदायक है।

(६) सन्ध्या करते जब प्राणायाम मन्त्र आजावे तो रेचक, पूरक, कुम्भक, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम करते हुए मन में 'ॐ' का जप जारी रहना चाहिये। ॐ का जप करते हुए ॐ का अर्थ 'रक्षक' हृदय में रखना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम और मन द्वारा ॐ का जप करने से ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि—"आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है। और प्राणायाम से प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होती हैं"। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास, पृष्ठ २२।

(७) महर्षि दयानन्द ने हर स्थान में उपासना पर बड़ा बल दिया है, उनका पूर्ण और अटल विश्वास था कि उपासना से बड़ी भारी शक्ति मिलती है। ऋषिवर सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास पृष्ठ ११४ में लिखते हैं :—"जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है, नित्य प्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ कर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त होता जाता है।"

आनन्द स्वामी सरस्वती

सन्ध्या का सार

सन्ध्या = आध्यात्मिक भोजन (आत्मा की खुराक)

भूखे को भोजन, पिपासु को पानी, रोगी को औषध का आनन्द पूछना चाहिए। "स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते" यह स्व स्व अन्तःकरण का ही विषय है।

प्रतिदिन, प्रतिघण्टा, प्रतिक्षण मैले होते रहने वाले वस्त्र के लिये धोबी या साबुन की परमावश्यकता है। उसी प्रकार आत्मा रूपी वस्त्र किस साबुन या धोबी से धुलेगा ?

सन्ध्या = परमात्मदेव के चिन्तनसे। सो कैसे ?

सर्वव्यापी—सुख की वर्षा करने वाले—प्रभु का आश्रय।

शत्रुओं पर विजय, चञ्चल इन्द्रियों को सुमार्ग में लगाकर उन्हीं को मित्र बना लेना॥ सूर्य चन्द्रादि विचित्र विविध सृष्टि के महान् रचयिता व्यवस्थापक प्रभु से डर पाप से बचना॥ उच्छृङ्खल (दुलतियां चलाने वाले) दुर्निवार (बड़े यत्न से वश में होने वाले, दूर दूर जाने वाले) मन-रूपी घोड़े को पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, नीचे और ऊपर उस महान् प्रभु का अन्त लेने में खुली दौड़ दौड़ा कर हंपा और थका देना॥

अब यह ठहरे कहाँ ? माता की गोद में !! अन्धकार से रहित प्रकाश से परिपूर्ण जातवेदाः—दिव्यस्वरूप—बल के देने वाले विचित्र स्वरूप—चराचर के आत्मा के समीप !! क्या ऐसे महान् पिता का आश्रय लेने से किसी का भी भय रह सकता है ? कदापि नहीं, तो क्या वह दूर है ? नहीं। तो फिर ? हम दूर हैं। अपनी दूरी को दूर करें। उपासक बनें॥

संसार भर के देश, जाति और मनुष्यों में पुण्य पाप, अच्छा-बुरा, नेकी-बदी, अवश्य ही मानी जाती है और माननी पड़ेगी॥

अतः जगत् के प्राण, दुःख दूर करने वाले, शुद्धस्वरूप-परमा-

त्वदेव के चिन्तन से हमारी पाप-अधर्म-अपवित्र-स्वार्थ बुद्धि दूर हो।
पुण्य-धर्म-पवित्र विश्वहित-बुद्धि बनी रहे ॥
कल्याणकारी उस प्रभु को हम अपना सर्वस्व अर्पण कर दें।
प्रातः सायं इन्हीं बातों का चिन्तन करना सन्ध्या है ॥

बस इतना ही ? हाँ इतना (आध्यात्मिक) भोजन तो पच भी कठिनाई से सकेगा ॥

अहा !!! कैसा सुन्दर साबुन—आत्मा का बढ़िया भोजन यह सन्ध्या है। तो यह भूख मिटाने वाला भोजन अच्छा क्यों नहीं लगता ? सच्ची भूख नहीं। जब भी सच्ची भूख लग जायगी, तभी इसका आनन्द अनुभव होगा। तभी ऋषि की इस वैदिक सन्ध्या के एक-एकशब्द का रहस्य स्वयं ही समझ में आता जायेगा। एक ही मन्त्र पर मनन करने में घण्टों बीत जायेंगे।

तो ऐसी भूख लगती क्यों नहीं ? अज्ञान से अनित्य को नित्य, शरीरादि अपवित्र को पवित्र, दुःखदायी कार्यों को सुख देने वाले, अनात्मा को आत्मा समझ रहे हैं ॥

यह अविद्यान्धकार कैसे दूर हो—तत्त्वज्ञान से। तत्त्वज्ञान विना शास्त्र के स्वाध्याय के कहाँ !!! हाँ ठीक इसी लिये स्वाध्याय भी ब्रह्मयज्ञ है।

तो क्या इससे रोटी भी मिलेगी ? हाँ हाँ। सो कैसे ? शान्त चित्त हो शान्ति से बैठ कर सोचेगा तभी रोटी मिलने का उपाय भी सूझेगा, नहीं तो हाय-हाय मचाने से भी तो रोटी कहीं से गिर नहीं पड़ेगी ॥ ठीक, इसी लिये ऋषि ने लिखा--

"नित्यकर्मों के फल शरीरसुख से व्यवहार और परमार्थ कार्यों की सिद्धि"।

प्रभु कृपा करें हमें सच्ची आध्यात्मिक भूख लगे और हम सन्ध्यारूपी आत्मिक भोजन का आनन्द प्राप्त कर सकें।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (सम्पादक)

॥ अथ सन्ध्याशब्दानामर्थनिर्देशः ॥

शब्द	अर्थ
अकल्पयत् ...	रचा
अगन्म ...	प्राप्त हों
अग्निः ...	प्रकाशस्वरूप
अग्नेः ...	प्रकाश का
अजायत ...	पैदा हुआ
अथो ...	पीछे
अदीनाः ...	स्वाधीन
अधि ...	पीछे
अधिपतिः ...	स्वामी
अध्यजायत ...	पैदा हुआ
अनीकम् ...	बल
अन्तरिक्षम् ...	आकाश तथा बीच में रहने वाले लोक
अन्नम् ...	पृथिव्यादि भोग्य पदार्थ
अभि ...	सब तरफ से
अभिष्टये ...	इष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिये
अभीद्धात् ...	सब तरफ से प्रकाशित से

शब्द	अर्थ
अर्णवः ...	आकाशस्थ तथा भूमिस्थ समुद्र
अशनिः ...	बिजली
असितः ...	बन्धन रहित
अस्तु ...	हो
अस्मान् ...	हमको
अहः ...	दिन
आत्मा ...	सर्वत्र व्यापक
आदित्याः ...	सूर्य की किरण
आपः ...	व्यापक
आप्राः ...	सब तरफ से धारण तथा रक्षा करता है
इन्द्रः ...	ऐश्वर्य वाला
इषवः ...	बाण
उ ...	निश्चय
उद्भरत् ...	उत्कृष्टता से व्याप्त
उत्तमम् ...	अच्छा
उत्तरम् ...	पीछे प्रकाशित रहे
उदगात् ...	उत्कृष्टता से प्राप्त
उदीची ...	उत्तर

शब्द	अर्थ
उद्	अच्छा
ऊर्ध्वा	ऊपर
ऋतम्	वेद
एभ्यः	इनके लिये
ओम्	रक्षा करने वाला
कण्ठः	गला
कण्ठे	गले में
कर	हाथ
कल्माष	हरित
केतवः	किरण
खम्	आकाश की तरह व्यापक
ग्रीवा	गरदन
च	और
चक्षुः	आँख
चन्द्रमाः	चाँद
चित्रम्	अद्भुत
जगतः	चर संसार का
जनः	पैदा करने वाला
जम्भे	वश में
जातवेदसम्	जिससे वेद पैदा हुए उसको
जीवेम	जीवें
ज्योतिः	स्वप्रकाश
ततः	फिर
तत्	वह

शब्द	अर्थ
तपः	ज्ञानरूप
तपसा	सामर्थ्य से
तिरश्चि	कीड़े बिच्छू आदि
तेभ्यः	उनके लिये
तमसः	अन्धकार से
तम्	उसको
तल	तला
तस्थुषः	स्थावर का
त्यम्	उसको
दक्षिणा	दाहिनी
दध्मः	धारण करें
दिग्	दिशा
दिवम्	सूर्यादि लोकों को
द्विष्मः	द्वेष करते हैं
देवत्रा	देवों, अच्छे गुण वालों में
देवम्	दिव्यरूप को
देवस्य	प्रकाशक को
देवानाम्	विद्वानों के
देवीः	प्रकाशक
दृशे	देखने को
द्यावा	सूर्यादि लोक
द्वेष्टि	द्वेष करता है
धाता	धारण कर्ता
धियः	बुद्धियों को

शब्द		अर्थ
धीमहि	...	ध्यान करते हैं
ध्रुवा	...	निचले
नः	...	हमको
नः	...	हम पर
नमः	...	नमना
नाभिः	...	टुंडी
नाभ्याम्	...	नाभि में
नेत्रयोः	....	नेत्रों को
परि	...	पृथक्
पश्यन्तः	...	देखते हुए
पश्येम	...	देखें
पाद्योः	...	पैरों में
पितरः	...	ज्ञानी लोग
पीतये	...	पूर्णानन्द द्वारा तृप्ति के लिये
पुनः	...	फिर
पुनातु	...	पवित्र करे
पुरस्तात्	...	सृष्टि से पहिले
पूर्वम्	...	पहिले
पृथिवी	...	भूमि
पृदाकुः	...	सांप
पृष्ठे	...	पीठ में
प्रचोदयात्	...	प्रेरणा करें
प्रतीची	...	पश्चिम
प्रब्रवाम	...	उपदेश करें

शब्द		अर्थ
प्राची	...	पूर्व
प्राणः	...	प्राणवायु
बलम्	...	बल
बाहुभ्याम्	...	हाथों से
बृहस्पतिः	...	बड़ों का स्वामी
भर्गः	...	शुद्ध, विज्ञानरूप
ब्रह्म	...	सब से बड़ा
भवन्तु	...	हों
भुवः	...	दुःखहर्ता
भूः	...	प्राणदाता
भूयः	...	अधिक
मयस्कराय	...	सुख करने वाले के लिये
मयोभवाय	...	सुखस्वरूपकेलिये
महः	...	बड़ा
मिषतः	....	स्वभाव से
मित्रस्य	...	मित्र के
यः	...	जो
यथा	...	जैसे
यम्	...	जिसको
यशः	...	कीर्त्ति
रक्षिता	....	रक्षा करने वाला
राजिः	...	पङ्क्ति
रात्री	...	रात
वरुणस्य	...	श्रेष्ठ कर्म में वर्त्तमान

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वः	... उनके	शिवाय	...सुखस्वरूप के लिये
वयम्	... हम	शुक्रम्	... शुद्ध
वरुणः	... श्रेष्ठ स्वामी	शृणुयाम	... सुनें
वरेण्यम्	... ग्रहण के योग्य	श्रोत्रम्	... कान
वर्षम्	... वर्षा	श्वित्रः	... ज्ञानमय
वशी	वश में रखने वाला	सत्यम्	... अविनाशी
वहन्ति	... प्राप्त कराते हैं	समुद्रात्	... समुद्र से
वाक्	... वाणी	संवत्सरः	... वर्ष आदि
विदधत्	... रचे हैं	सर्वत्र	... सब जगह
विश्वस्य	... जगत् के	सवितुः	...पैदा करने वाले के
विष्णुः	... व्यापक	सूर्यः	... सूरज सब जगत् का प्रकाशक
वीरुधः	... वृक्षादि		
शतम्	... सौ	सूर्यम्	... व्यापक को
शतात्	... सौ से	सोमः	... पैदा करने वाले
शम्	... कल्याण	स्याम	... हों
शङ्कराय	... कल्याण कर्त्ता के लिए	स्रवन्तु	... वर्षा करें
शम्भवाय	...सुखकारी के लिए	स्वः	... मध्यस्थ लोक, सुख स्वरूप
शंयोः	... सुख की		
शरदः	... वर्षों के	स्वजः	... जन्म रहित
शिरः	शिर	स्वाहा	... प्यारे वचन
शिरसि	... शिर में	हितम्	... भला चाहनेवाला
शिवतराय	... अत्यन्त सुख स्वरूप के लिये	हृदयम्	... हृदय को
		हृदये	... हृदय में

॥ इति ॥

अथ सन्ध्योपासनब्रह्मयज्ञविधिः

यह पुस्तक नित्यकर्मविधि का है, इसमें ब्रह्मयज्ञ का विधान है। इसके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ और जो जो करने का विधान लिखा है सो सो यथावत् करना चाहिए। एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके उस उस कर्म में चित्त लगा के तत्पर होना चाहिए। इस नित्यकर्म के फल ये हैं कि ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्यों की सिद्धि होना, उस से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सिद्ध होते हैं। इन को प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है॥

॥ अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणानि ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः

सौमनसस्यं दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥१॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥२॥ अथर्व कां० १९ । सू० ५५ । मं० ३, ४ ॥

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते । स ज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः सा सन्ध्या, तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् ॥ षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४ । खं० ५ ॥ ३ ॥

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ तैत्तिरीय आ० प्रपा० २ । अनु० २ ॥ ४ ॥

[पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ मनु०२।१०१]॥५॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
मनु० अ० २ । श्लो० १०३ ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सायं सायम्) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देने वाला है, उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देने वाला

है, इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिए। तथा इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिए भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आप को प्रकाशित करते हुए अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करते हुए सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों॥१॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु यह विशेष है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतंहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायँ जिन वर्षों में अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं॥ २॥

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे, जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है * वही सन्ध्या का

---

* (i) उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥ ऋ० १।१।७॥ य० ३।२२॥

हे (अग्ने) ईश्वर! (दिवेदिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायंप्रातः [वस्त

काल जानना और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यानक्रिया करनी होती है वही सन्ध्या है, और जो एक ईश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना न करनी तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं ॥ ३ ॥

(उद्यन्तमस्तं यन्त०) जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे, उस में नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है, इस से सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय परमेश्वर की नित्य उपासना किया करें ॥ ४ ॥

इत्यहर्वाचीति स्वा० दयानन्दः, सायणोऽपि–सम्पादकः] (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं ॥

(ii) यत् सायं च प्रातश्च सन्ध्यामुपास्ते ··· = षड्विं०ब्रा० ४।५॥

(iii) ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन् ॥ षड्विं० ब्रा० ४।५ ॥

ऊपर के तथा इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि सन्ध्या दो काल ही होती है। यदि कोई सज्जन अधिक करना चाहें तो उनके लिये तो "शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा" सोता-चलता-उठता-बैठता प्रभु का चिन्तन करे, इससे अच्छा क्या है ॥ (सम्पा०)

इसमें मनुस्मृति की भी साक्षी है कि दो घड़ी रात्रो से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥ ५ ॥

(न तिष्ठति तु) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता उसको शूद्र के समान समझ कर द्विज कुल से अलग करके * शूद्रकुल में रख देना चाहिये। वह सेवाकर्म किया करे और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिए, इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामों से इस काम को मुख्य जान कर पूर्वोक्त दो समयों में जगदीश्वर की उपासना नित्य करते रहें ॥ ६ ॥

॥ इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि † ॥

---

* सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते ।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥
बौ० ध० सू० २।४।२०॥

† यह प्रमाणरूप भूमिकाभाग पञ्चमहायज्ञविध्यन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ के अन्त में दिया गया है; सुगमता के विचार से हमने प्रारम्भ में ही दे दिया है—(सं०)।

[अथ प्रथमो ब्रह्मयज्ञः सन्ध्योपासनम्]

अब सन्ध्योपासना ब्रह्मयज्ञ की विधि लिखी जाती है और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है। पहिले सन्ध्या शब्द का अर्थ यह है कि (सन्ध्यायन्ति) भली भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें वह सन्ध्या, सो रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये। पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने अ० ५ के १०९ श्लोक (अद्भिर्गात्राणि*) इत्यादि में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। परन्तु शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है।

तब कुशा वा हाथ से मार्जन करे अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इस लिये शिर और नेत्र आदि पर जलप्रक्षेप करे, यदि आलस्य न हो तो न करना।

---

* अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे फिर शनैः शनैः ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोक के बाहर निकाल दे और वहाँ भी कुछ रोके, इस प्रकार कम से कम तीन बार करे। इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे, इसके अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बाँध कर रक्षा करे। इसका प्रयोजन यह है कि केश इधर उधर न गिरें, सो यदि केशादिपतन न हो तो न करे और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करें॥

॥ अथाचमनमन्त्रः ॥

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६। मं० १२॥

॥ भाषार्थ ॥

अब आचमन करने का मन्त्र लिखते हैं—(ओं शन्नो देवीरित्यादि) इसका अर्थ यह है कि 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है, वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। दिवु धातु अर्थात् जिसके क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उससे देवी शब्द सिद्ध होता है (देवीः, आपः) सब का प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक ईश्वर (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये और

(पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो, अर्थात् हमारा कल्याण करे, वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) सर्वथा वृष्टि करे।

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे। यदि जल न हो तो न करे। आचमन से गले के कफादि की निवृत्ति होना प्रयोजन है ॥

यहाँ अप् शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण (यत्र लोकांश्च*) जिसमें सब लोक लोकान्तर (कोश) अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खज़ाना जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थिर हैं, उसीका नाम अप् है और वह नाम ब्रह्म का है तथा उसीको स्कम्भ कहते हैं, वह कौनसा देव और कहाँ है ? इसका यह उत्तर है कि (अन्तः) सबके भीतर व्यापक हो के परिपूर्ण हो रहा है उसीको तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप् नाम ब्रह्म का है

॥ अथेन्द्रियस्पर्शः ॥

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः।

---

* यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तस्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथ० १०।७।१० ॥

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्यां यशोबलम् । ओं करतलकरपृष्ठे ॥

॥ भाषार्थ ॥

अथेन्द्रियस्पर्शः—(ओं वाक् वागित्यादि) इस प्रकार से ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रियां बलवान् रहें ॥

॥ अथेश्वरप्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्राः ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक मार्जन के मन्त्र लिखे जाते हैं—

(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि) ओंकार, भूः, भुवः, और स्वः, इनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देख लेना । (महः) सब से बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को 'महः' कहते हैं । (जनः) सब जगत् का उत्पादक होने

से परमेश्वर का 'जनः' नाम है (तपः) दुष्टों को सन्तापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को 'तपः' कहते हैं, क्योंकि (यस्येत्यादि*) उपनिषद् का वाक्य इस में प्रमाण है, (सत्यम्) अविनाशी होने से परमेश्वर का 'सत्य' नाम है। और व्यापक होने से 'ब्रह्म' नाम परमेश्वर का है। अर्थात् पूर्व-मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं। इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए मार्जन करें॥

॥ अथ प्राणायाममन्त्राः ॥

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥ तैत्ति० आ० प्रपा० १०। अनु० २७॥

इति प्राणायाममन्त्राः॥

॥ भाषार्थ ॥

अब प्राणायाम के मन्त्र लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि) इनके उच्चारण और अर्थ बिचारपूर्वक उस पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार प्राणायामों को करे।

† इस प्रकार प्राणायाम कर के अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फैंक के, यथाशक्ति बाहर ही रोक के, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके, पुनः बल से

---

* यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्डको० १।१।९॥

† "इस प्रकार······शुद्ध करें" यह पाठ अजमेर सं० में मनसापरिक्रमा मन्त्रों से पूर्व छपा है, किन्तु वहाँ प्राणायाम का प्रकरण न होने के कारण तथा मूल संस्कृतानुसारी न होने से प्राणायाम के प्रकरण में यहाँ रखना आवश्यक समझा है॥ (सम्पादक)

बाहर फैंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसे गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध होकर बाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्द-स्वरूप व्यापाक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें ॥

॥ अथाघमर्षणमन्त्राः ॥

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० मण्ड० १० । सू० १९० । मं० १, २, ३, ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब अघमर्षण अर्थात् हे ईश्वर ! तू जगदुत्पादक है, इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश का मन्त्र लिखते हैं। (ओं ऋतं च सत्यमित्यादि) इसका अर्थ यह है कि (धाता) सब जगत् को धारण और पोषण करने

वाला और (वशी) सब को वश में करने वाला परमेश्वर (यथापूर्वम्) जैसा कि उस के सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे उन के अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं, (सूर्याचन्द्रसौ) जैसे पूर्वकल्प में सूर्य चन्द्र लोक रचे थे वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं, (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था वैसा ही इस कल्प में रचा है तथा (पृथिवीम्) जैसी [पृथिवी] प्रत्यक्ष दीखती है (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में पोलापन है (स्वः) जितने आकाश के बीच में लोक हैं उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादिकाल से लोक लोकान्तरों को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है उसमें वृद्धि, क्षय, और उलटापन कभी नहीं होता इसी कारण से (यथा पूर्वमकल्पयत्) इस पद का ग्रहण किया है। (विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहज स्वभाव से जगत् के [(अहोरात्राणि)] रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि जैसे पूर्व थे, वैसे ही (विदधत्) रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि ईश्वर

ने किस वस्तु से जगत् को रचा है तो उसका उत्तर यह कि (अभीद्धात्तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खज़ाना वेदशास्त्र को प्रकाशित किया, जैसा कि पूर्व सृष्टि में प्रकाशित था और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा। (सत्यम्) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत् सत्, प्रधान, प्रकृति हैं, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे हज़ार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इस में ऋग्वेद का प्रमाण है * कि जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है और उसी अन्धकार में सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुए रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है। (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और

* तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑। ऋ० १०।१२९।३॥

मेघमण्डल में जो महासमुद्र है, सो भी पूर्वसृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है। (समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल भी पूर्वसृष्टि के समान उत्पन्न हुआ। वेद से लेके पृथिवी पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है, और ईश्वर सब को उत्पन्न करके सब में व्यापक हो के अन्तर्यामी रूप से सब के पाप पुण्यों को देखता हुआ पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सब को यथावत् फल दे रहा है, ऐसा निश्चित जान के ईश्वर से भय करके, सब मनुष्यों को उचित है कि मन कर्म और वचन से पाप कर्मों को कभी न करें, इसी का नाम अघमर्षण है, अर्थात् ईश्वर सब के अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है, इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें॥

(शन्नो देवीरिति) इस मन्त्र से [पुनः] तीन आचमन करें। तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति, अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करें अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहें। और सदा पश्चात्ताप करें कि मनुष्यशरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उप-

कार कुछ भी नहीं बनता, जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब का उपकार करें, इस काम में परमेश्वर हम को सहाय करे कि जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें। तदनन्तर ईश्वर की उपासना करें, सो दो प्रकार की है। एक 'सगुण' और दूसरी 'निर्गुण', जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करने हारा, मङ्गल-मय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देने वाला, सब का पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश है, इत्यादि ईश्वर के गुणविचारपूर्वक उपासना करने का नाम 'सगुणोपासना' है। तथा 'निर्गुणोपासना' इस प्रकार से करनी चाहिए, कि ईश्वर अनादि, अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं, अजन्मा, अमृत्यु, जिसका जन्म और मरण नहीं, निराकार, निर्विकार, जिसका आकार और जिस में कोई विकार नहीं, जिस में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं है; जिसका परिणाम, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता; जो ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता। जिस को भूख, प्यास,

शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह 'निर्गुणोपासना' कहलाती है॥

॥ अथ मनसापरिक्रमामन्त्राः ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥१॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्राची दिगग्निरधिपतिः) जो प्राची दिक् अर्थात् जिस ओर अपना मुख हो (तथा जिधर सूर्य उदय होता है) उस ओर अग्नि जो ज्ञानस्वरूप, अधिपति जो सब जगत् का स्वामी (असितः) बन्धन रहित (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करने वाला (आदित्या इषवः) जिस के बाण आदित्य की किरणें हैं, उन सब गुणों के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं। (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं और पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये कि जो प्राणी

अज्ञान से हमारा द्वेष करता और अज्ञान से जिस धार्मिक पुरुष का, तथा पापी पुरुष का हम लोग द्वेष करते हैं उन सब की बुराई को उन बाणरूप किरण मुखरूप के बीच दग्ध कर देते हैं, कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें। और कोई भी प्राणी हम से वैर न करे, किन्तु हम लोग परस्पर मित्रभाव से वर्तें ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण दिशा है, उसका अधिपति इन्द्र अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्य वाला है। (तिरश्चिराजी रक्षिता) जो पदार्थ कीट पतङ्ग वृश्चिक आदि तिर्यक् कहाते हैं, उनकी राजी जो पङ्क्ति हैं उनसे रक्षा करने वाला एक परमेश्वर है। (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान जान लेना ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग में है, उस में वरुण जो सब से उत्तम सब का राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्नमिषवः) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से रक्षा करने वाला है, जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान हैं, श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं। (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व मन्त्र के समान जान लेना ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बाईं

ओर उत्तर दिशा है उसमें सोम नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द करने वाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिए। (स्वजो रक्षिताशनिरिषवः) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करने वाला है जिस के बाण विद्युत् हैं (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः) ध्रुवा दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना (कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः) जिसके हरित रंगवाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं उन से अधोदिशा में हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो

नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

अथर्व० का० ३ सू० २७ मं० १।२।३।४।५।६॥

(ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः (जो अपने ऊपर दिशा है उस में बृहस्पति जो कि वाणी का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें, जिसके बाणों के समान वर्षा के बिन्दु हैं उनसे हमारी रक्षा करे । (तेभ्यो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥

॥ इति मनसापरिक्रमामन्त्राः ॥

॥ अथोपस्थानमन्त्राः ॥

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥

य० अ० ३५।१४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं जिन से परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है । हे परमेश्वर (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग प्रकाशस्वरूप (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करने वालों में प्रकाशक (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) जो ज्ञानस्वरूप और सब

से उत्तम आप को जान के (वयमुदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए हैं। हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है, क्योंकि हम लोग आपकी शरण हैं ॥१॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥ यजु० अ० ३३, मं० ३१॥

॥ भाषार्थ ॥

(उदु त्यं जातवेदसम्) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है। जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर, जातवेदा नाम से प्रसिद्ध है (देवम्) जो सब देवों का देव और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है (त्यम्) उस परमात्मा की (दृशे विश्वाय) विश्वविद्या की प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते हैं। (उद्वहन्ति केतवः) जिसको केतवः अर्थात् वेद की श्रुति और जगत् के पृथक् पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते हैं, उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना किया करें, अन्य किसी की नहीं ॥२॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य

वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षᳬ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥३॥

य० अ० ७, मं० ४२ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(चित्रं देवानाम्०) (सूर्य आत्मा) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है उसको सूर्य कहते हैं (आप्रा द्या०) जो सूर्य और अन्य सब लोकों को बना के धारण और रक्षण करने वाला है। (चक्षुर्मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् राग द्वेष रहित मनुष्य तथा सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करने वाला है (वरुणस्याग्नेः) सब उत्तम कामों में जो वर्तमान मनुष्य, प्राण, अपान, और अग्नि का प्रकाश करने वाला है। (चित्रं देवानाम्) जो अद्भुत–स्वरूप विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता हैं (अनीकम्) जो सकल मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है, वह परमेश्वर (उदगात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬ शृणुयाम शरदः

शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥ य० अ० ३६, मं० २४॥

॥ भाषार्थ ॥

(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है, (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्मको हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, (जीवेम शरदः शतम्) जीवें, (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें, (प्रब्रवाम श०) उसी ब्रह्म का उपदेश करें, (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के अधीन न रहें, (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें, और स्वतन्त्र रहें, अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है जो मनुष्य इसको छोड़ के दूसरे की उपासना करता है वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़ के इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें ॥४॥

॥ अथ गुरुमन्त्रः ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

य० अ० ३६ । मं० ३ ॥ ऋ० मण्ड० ३ । सू० ६२ । मं० १० ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ओम् भूर्भुवः स्वः) जो अकार उकार और मकार के योग से ओम् यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है जिस में सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसे पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है, इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है, जैसे अकार से (विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है, इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिए उकार से (हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करने वाले सूर्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करने हारे सूर्यादि लोकों का उत्पन्न करने वाला है, इससे ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं, ज्योतिः के नाम हिरण्य, अमृत

और कीर्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बल वाला और सब जगत् का धारण करने हारा है, (तैजसः) जो प्रकाश-स्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है, इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये। तथा मकार से (ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है, (आदित्यः) जो नाश रहित है, (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना, यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया॥

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं (भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम भूः है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिये परमेश्वर का नाम भुवः है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक हो के सबको नियम में रखता और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्व का नाम स्वः है। यह [महा] व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया।

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं—(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करने हारा और ऐश्वर्य का देने वाला

है, (देवस्य) जो सबके आत्माओं का प्रकाश करने वाला और सब सुखों का दाता है, (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने योग्य है, (भर्गः) जो शुद्ध विज्ञानस्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें, किस प्रयोजन के लिये कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे। इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत्चित् आनन्दस्वरूप, नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करने हारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्य देह रूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ संक्षेप से हो चुका ॥

॥ अथ समर्पणम् ॥

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः। तत ईश्वरं नमस्कुर्यात्—

इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे, कि "हे ईश्वर

दयानिधे ! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं वे सब आपके समर्पण हैं जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके, धर्म–जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ–जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम–जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और मोक्ष–जो सब दुःखों से छूट कर सदा आनन्द में रहना है। इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो" ॥ इति समर्पणम्।

नमः॑ शम्भ॒वाय॑ च मयोभ॒वाय॑ च॒ नमः॑ शङ्क॒राय॑ च मयस्क॒राय॑ च॒ नमः॑ शि॒वाय॑ च शि॒वत॑राय च ॥

य० अ० १६। मं० ४१॥

इसके पीछे ईश्वर को नमस्कार करे—(नमः शम्भवाय च) जो सुखस्वरूप, (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों का देने वाला (नमः शङ्कराय च) कल्याण का कर्त्ता मोक्षस्वरूप, धर्मयुक्त कामों को ही करने वाला, (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख का देने वाला और धर्म कामों से युक्त करने वाला, (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप और धार्मिक मनुष्यों को मोक्ष सुख देने हारा है, उसको हमारा बारंबार नमस्कार हो ॥

॥ इति सन्ध्योपासनविधिः ॥

॥ अथ प्रार्थनामन्त्राः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥ य० अ० ३० मं० ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

ऋ० १० । १२१ । १॥ यजु० अ० १३ । मं० ४ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

ऋ० १० । १२१ । २ ॥ यजु० अ० २५ । मं० १३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

ऋ १०। १२१ । ३ ॥ यजु० अ० २३ । मं० ३ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो

विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

यजु० अ० ३२ मं० ६ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

ऋ० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥ यजु० अ० ३२ । मं० १० ॥

अग्ने नयसुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ ८ ॥

यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

अथाग्निहोत्र

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष ❀ अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।

❀ किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़ के दो-दो आहुति करे ॥ (सं० वि०)

जब यज्ञ करने को बैठें तब इन मन्त्रों से तीन आचमन करें। अर्थात् एक-एक से एक-एक बार आचमन करें, वे मन्त्र ये हैं—

आचमनमन्त्र

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इससे एक

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इससे दूसरा

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

तैत्तिरीय आरण्यक प्र० १० । अनु० ३२, ३५ ॥

इससे तीसरा आचमन करके तत्पश्चात् जल लेकर नीचे लिखे मन्त्रों से अङ्गों का स्पर्श करें।

अङ्गस्पर्शमन्त्र

ओं वाङ्म आस्येऽस्तु ॥ इस से मन्त्र मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओं ऊर्वोर्म ओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जङ्घा, और

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥

पारस्कर गृ० का० १ । कण्डिका ३ । सू० २५ ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना ॥

तत्पश्चात् समिधाचयन वेदि में करें, पुनः—

॥ अग्न्याधानमन्त्र ॥

ओं भूर्भुवः स्वः ॥ गोभिल गृ० प्र० १। खं० १। सू० ११॥

इसका उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला, उससे कपूर ❀ में लगा, किसी एक पात्र में धर उसमें छोटी-छोटी लकड़ी लगा के यजमान या पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गरम हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से आधान करे। वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥१॥

यजु० अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन (पंखे) से अग्नि को प्रदीप्त करे।

॥ अग्निप्रदीप्त करने का मन्त्र ॥

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

यजु० अ० १५। मं० ५४॥

❀ शुद्ध देशी कपूर होना चाहिए॥ (सं०)

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन अथवा पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबो उनमें से नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें, वे मन्त्र ये हैं—

समिदाधानमन्त्र

ओं अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥१॥

इससे पहली

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये इदं न मम ॥ २ ॥ यजु० अ० ३ । मं० १ ॥

इससे और

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥३॥ यजु० अ० ३ । मं० २॥

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी ।

ओं तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ॥४॥ यजु० अ० ३। मं० ३॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके नीचे लिखे मन्त्र से पांच घृत की आहुति देनी॥

॥ घृताहुतिमन्त्र ॥

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम॥ १॥

॥ जलप्रसेचनमन्त्र ॥

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि चारों ओर छिड़कावे, इसके ये मन्त्र हैं—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ इस मन्त्र से पूर्व,

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ इससे पश्चिम,

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ इससे उत्तर और,

गोभिलगृ० प्र० १ खं० ३। सू० १–३॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ यजु० अ० ३० मं० १॥

इस मन्त्र से चारों ओर जल छिड़कावें।

॥ आघाराज्याहुतिमन्त्र ॥

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में ।

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय इदं न मम ॥

गो० गृ० प्र० १ । ख० ८ । सू० २४ ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिणभाग में प्रज्वलित समिधाओं पर आहुति देनी, तत्पश्चात् ।

॥ आज्यभागाहुतिमन्त्र ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदं न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदं न मम ॥

इन दो मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी ।

॥ प्रातःकाल आहुति के मन्त्र ॥

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

॥ सायंकाल आहुति के मन्त्र ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो ।

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस तीसरे मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी चाहिये—

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ९, १० ॥

॥ दोनों काल के मन्त्र ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहिये—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय इदं न मम ॥ १ ॥

ओं भुववायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय इदं न मम ॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्य इदं न मम ॥ ४ ॥

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

यजु० अ० ३२ मं० १४ ॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तं न आ सुव स्वाहा ॥ ७ ॥

य० अ० ३० । मं० ३ ॥

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥

यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

इन आठ मन्त्रों से एक एक मन्त्र करके एक एक आहुति, ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक एक बार पढ़के एक एक करके तीन आहुति देवें ॥

॥ इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥

भजन

टेक—हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिये
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिये।
ऐसी कृपा और अनुग्रह, हम पै हो परमात्मा।
हों सभासद् इस सभा के, सबके सब धर्मात्मा ॥ १ ॥
हो उजाला सब के मन में, ज्ञान के प्रकाश से।
और अन्धेरा दूर सारा, हो अविद्या नाश से ॥ २ ॥
खोटे कर्मों से बचें सब, तेरे गुण गावें सभी।
छूट जावें दुःख सारे, सुख सदा पावें सभी ॥ ३ ॥
सारी विद्याओं को सीखें, ज्ञान से भरपूर हों।
शुभ कर्म में होवें तत्पर, दुष्ट गुण सब दूर हों ॥ ४ ॥
यज्ञ हवन से हो सुगन्धित, अपना भारतवर्ष देश।
वायु जल सुखदाई होवें, जावें मिट सारे क्लेश ॥ ५ ॥
वेद के प्रचार में, होवें सभी पुरुषार्थी।
होवे आपस में प्रीति, और बनें परमार्थी ॥ ६ ॥
लोभी और कामी क्रोधी, कोई भी हममें न हो।
सर्वव्यसनों से बचें, और छोड़ देवें मोह को ॥ ७ ॥
अच्छी संगत में रहें, और वेद मार्ग पर चलें।
तेरे ही होवें उपासक, और कुकर्मों से बचें ॥ ८ ॥
कीजिये हम सब का हृदय, शुद्ध अपने ज्ञान से।
मान भक्तों में बढ़ाओ, सबका भक्ति दान से ॥ ९ ॥

भजन

जय जय पिता परम आनन्द दाता ।
जगदादि कारण मुक्ति प्रदाता ॥ १ ॥
अनन्त और अनादि विशेषण हैं तेरे ।
सृष्टि का स्रष्टा तू धर्त्ता संहर्त्ता ॥ २ ॥
सूक्ष्म से सूक्ष्म तू है स्थूल इतना ।
कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड सारा समाता ॥ ३ ॥
मैं लालित व पालित हूँ पितृस्नेह का ।
यह प्राकृत सम्बन्ध है तुझ से ताता ॥ ४ ॥
करो शुद्ध निर्मल मेरे आत्मा को ।
करूं मैं विनय नित्य सायं व प्रातः ॥ ५ ॥
मिटाओ मेरे भय आवागमन के ।
फिरूं न जन्म पाता और बिलबिलाता ॥ ६ ॥
बिना तेरे है कौन दीनन का बन्धु ।
कि जिसको मैं अपनी अवस्था सुनाता ॥ ७ ॥
"अमी" रस पिलाओ कृपा करके मुझको ।
रहूं सर्वदा तेरी कीर्ति को गाता ॥ ८ ॥

आरती

ओ३म् जय जगदीश हरे, प्रभु जय जगदीश हरे ।
भक्त जनन के संकट, क्षण में दूर करे ॥ १ ॥
जो ध्यावे फल पावे, दुःख विनशे मन का ।
सुख सम्पत् घर आवे, कष्ट मिटे तन का ॥ २ ॥
मात पिता तुम मेरे, शरण गहूं किसकी ।
तुम बिन और न दूजा, आश करूं जिसकी ॥ ३ ॥
तुम पूर्ण परमात्मा, तुम अन्तर्यामी ।
पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सब के स्वामी ॥ ४ ॥
तुम करुणा के सागर, तुम पालन-कर्ता ।
मैं सेवक तुम स्वामी, कृपा करो भर्ता ॥ ५ ॥
तुम हो एक अगोचर, सब के प्राण-पति ।
किस विध मिलूं दयामय, तुमको मैं कुमति ॥ ६ ॥
दीनबन्धु दुःख-हर्ता, तुम रक्षक मेरे ।
करुणा-हस्त उठाओ, द्वार पड़ा तेरे ॥ ७ ॥
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा ।
'श्रद्धा' भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा ॥ ८ ॥

❀ ओ३म् ❀

आर्य्य-समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने आर असत्य के छोड़ने में सवदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना आर्य्य-समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।